चान्द्रायण कल्प
साधना

चांद्रायण-कल्प साधना

☼

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

☼

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनर्मुद्रित सन् २०१० मूल्य : १६.०० रुपये

अनुक्रमणिका

चांद्रायण साधना-उपचार और अंतर्मुखी दर्शन

आयुर्वेदीय कल्प का विवरण पढ़ते हैं तो ज्ञात होता है कि वमन, विरेचन, स्वेदन, नस्य, धूम्रपान, स्नेहन आदि के माध्यम से संचित मलों को बाहर निष्कासित किया जाता है। इस शरीर शुद्धि, परिशोधन के उपरांत शरीरगत मलिनताओं का भार हल्का होता है तथा नए उपचार की पृष्ठभूमि बनती है। यदि यह न किया गया तो उपचार का लाभ शरीर को मिलने के स्थान पर जलती आग में पड़े ईंधन की भस्म हाथ लगने के अतिरिक्त और कुछ पल्ले पड़ता नहीं। खाई पार कर ही पार जाया जा सकता है, अन्यथा सारे प्रयास-पुरुषार्थ इस खंदक को पार करने में लगी शक्ति के माध्यम से समाप्त हो जाएँगे।

ठीक यही सिद्धांत आध्यात्मिक काया-कल्प पर भी लागू होता है। यह भी एक प्रकार की चेतनात्मक काया-कल्प चिकित्सा है। पंच तत्त्वों के काय-कलेवर में बैठा जीव जिन मलिनताओं से, संचित मलों से आच्छादित है, उनसे छुटकारा पाए बिना उसे नवीन चोला पहनाया नहीं जा सकता है। इस चिकित्सा उपचार में प्रारंभ में दो काम करने होते हैं। एक तो अपनी चिंताओं, समस्याओं, कठिनाइयों, आकांक्षाओं, अभिलाषाओं को विस्तारपूर्वक लिखकर मार्गदर्शक के सम्मुख प्रस्तुत कर देना होता है; ताकि उन्हीं बातों को बताने, पूछने का ताना-बाना न बुनते रहकर, जो कहना है, वह एक बार में कह लिया जाए।

इससे भौतिक प्रयोजनों-सांसारिक गतिविधि प्रधान हलचलों से मन विरत होकर हल्का होता और अंतर्मुखी बनता है। तब मूल उद्देश्य का तारतम्य बिठा पाना संभव हो पाता है।

दूसरी बात वह उगलनी होती है जिसमें अपने क्रियमाण दुष्कर्मों का उल्लेख होता है। पूर्वजन्म के संचित कर्मों की तो अपने को कोई जानकारी है भी नहीं। पर इस शरीर से इसी जन्म में जो दुष्कृत्य हुए हैं, उनका सही अर्थों में प्रायश्चित बिना वमन किए संभव नहीं। यही वे अवरोध हैं, जो साधना को सफल नहीं होने देते। न ही कष्ट कठिनाइयों से छूटने के लिए अपने प्रयासों को कारगर होने देते हैं।

यह एक सुविदित तथ्य है कि सृष्टा की कर्म व्यवस्था सुनिश्चित है। वह स्वसंचालित पद्धति से क्रिया की प्रतिक्रिया उत्पन्न करती रहती है। पाप कृत्यों से कुसंस्कार बढ़ते हैं। कुसंस्कारों से स्वभाव में उद्दंडता आती है। उद्धत स्वभाव से आचारण बनते हैं। उनके फलस्वरूप भीतर से रोक-शोक उभरते हैं और बाहर से असहयोग, तिरस्कार एवं रोष-प्रतिशोध की प्रताणनाएँ, बरसती रहती हैं। फलतः समस्याएँ उलझती, कठिनाइयाँ पनपती और विपत्तियाँ बरसती रहती हैं। यही है पाप कर्मों की स्वसंचालित दंड व्यवस्था, जो अपने लिए स्वयं ही यमदूत उत्पन्न करती है और नशा पीकर नाली में गिरने, अभक्ष्य खाकर वमन करने, फांसी लगाकर बेमौत मरने की तरह किए हुए दुष्कृत्यों का प्रकारांतर से दंड प्रस्तुत करती रहती है। इस जंजाल की जकड़न में ऊँचा उठने और आगे बढ़ने की बात बनती नहीं, इसलिए उनका निराकरण करना ही बुद्धिमत्ता है। आँख में पड़े हुए तिनके को और पैर में धँसे काँटे को निकाल फेंक देना ही विवेकशीलता का चिन्ह है। पके फोड़े का मवाद जितनी जल्दी निकल जाए, उतनी ही सुविधा रहेगी। संचित क्रियमाण पापों को लादे रहकर उनका प्रायश्चित कर लेना ही एक आवश्यक कृत्य

है। अध्यात्म मार्ग पर चलने वाले इस भार को उतारते और हल्के-फुल्के होकर प्रगति पथ पर अग्रसर होने की दूरदर्शिता अपनाते हैं।

इसकेलिए आवश्यक है कि अपनी स्मृति के सभी दुष्कृत्यों को विस्तार पूर्वक घटनाक्रमों तथा उनके साथ जुड़ी हुई परिस्थितियों के साथ मौखिक या लिखित रूप से मार्गदर्शक की जानकारी में लाया जाए। इसी आधार पर पाप कर्मों के भारी-हल्के होने का और तदनुरूप परिशोधन, प्रायश्चित की विधि-व्यवस्था का निर्धारण बन पड़ता है।

यही आध्यात्मिक वमन, विरेचन है, जिससे मानसिक सफाई का कार्य संभव हो पाता है। अपनी ओर से बात पूरी कर लेने पर दूसरे पक्ष का ही काम शेष रह जाता है। क्या उपाय करना है—क्या हल निकलना है इसके लिए प्रतीक्षा भी की जा सकती है। अपना पक्ष प्रस्तुत कर देने के उपरांत साधक की मन:स्थिति ऐसी बन जाती है कि कठोर तितिक्षा प्रधान साधनाओं के मूलभूत उद्देश्य —अंतर्मुखी होकर आत्मशोधन से लेकर आत्म-साक्षात्कार तक की लंबी प्रक्रिया में तन्मयता एवं तत्परतापूर्वक जुटा जा सके।

इस प्रकार की कठोर साधनाएँ घर से बाहर अन्यत्र जाकर किसी तीर्थ की पवित्र भूमि में, शहरी कोलाहल से दूर, मर्यादाओं की व्रतशीलता में अपने आपको बाँध कर ही सही रीति से संपन्न हो पाती हैं। अन्यथा उलझे वातावरण में, अनमने मन से-उद्विग्न चित्त से, खीजते-खिजाते किसी प्रकार चिन्ह पूजा भर कर लेने से कोई भी साधना उपक्रम सही प्रकार निभ नहीं पाता। कुछ रोग ऐसे होते हैं जिनमें चिकित्सक के लिखित परामर्श और घर पर दवा भर लेते रहने से ही काम चल जाता है। परंतु कुछ असाध्य व्याधियाँ ऐसी होती हैं कि अस्पताल में 'इनडोर' चिकित्सा करानी ही पड़ती है। बड़े ऑपरेशन घर पर रहकर नहीं कराए जा सकते। उसके लिए आवश्यक उपकरण, साधन तथा हर समय योग्यता के डॉक्टर,

सर्जन, सहायक, परिचारिकाएँ हर समय उपलब्ध नहीं हो सकते। ये सुविधाएँ मात्र अस्पतालों में ही होती हैं। अस्तु बड़े उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तदनुरूप ही व्यवस्था बनानी चाहिए। साधना स्थल की परिस्थिति एवं साधक की मनःस्थिति दोनों ही सुविधाएँ समुचित स्तर की रहने पर ही सांसारिक एवं आध्यात्मिक प्रयोजनों की पूर्णता सधती है।

कल्पवास में जो अनुबंध साधक पर लगााय जाता है उसके मूल में उद्देश्य एक ही है कि साधकों की मानसिक परिधि भी निर्धारित सीमा मर्यादा में ही केंद्रित रहे। बंदर की तरह इधर-उधर उछल-कूद न मचाए।

योगीराज अरविंद ने विशिष्ट तप, पुरुषार्थ हेतु इसी प्रकार कुटी प्रवेश किया था। निजी साधन के क्षेत्र में भी ऐसे कितने ही तपस्वी होते हैं जो जीवन को निर्धारित परिधि में ही केंद्रीभूत रखते हैं, न शरीर को इधर-उधर मचकने-भटकने देते हैं एवं न मन को आवारागर्दी में भटकने की छूट देते हैं। उच्चस्तरीय साधनाओं में यही नीति अपनानी चाहिए। साधक को अंतर्जगत में ही शरीर एवं मन को सीमाबद्ध कर गुफा प्रवेश की समाधि साधना जैसा स्तर अपनी साधनावधि में बनाकर उसे निष्ठापूर्वक निभाना चाहिए।

आत्म-साक्षात्कार-आत्मदर्शन-आत्मबोध आदि की अध्यात्म शास्त्रों में भाव भरी चरचा है। भगवान बुद्ध को जिस वट वृक्ष के नीचे आत्मबोध हुआ था, उसे बोधिवृक्ष नाम दिया गया-देवतुल्य पूजा गया। उसकी टहनियाँ काटकर संसार भर के बौद्ध धर्मानुयायी ले गए और अपने-अपने यहाँ उसकी स्थापना करके वैसे ही देवात्मा बोधि वृक्ष उगाए। यहाँ चरचा वृक्ष-विशेष की नहीं हो रही है वरन कहा यह कहा जा रहा है कि आत्मबोध-आत्मदर्शन ही उच्चस्तरीय देव वरदान है। जिसे उसकी उपलब्धि जिस अनुपात में हो गई, समझाना चाहिए कि वह उतना ही बड़ा श्रेयाधिकारी बन गया।

सभी देव मानवों की अंत:स्थिति यही रही है कि उन्होंने अपने को जाना-समझा है और आत्मगौरव को प्रमुखता देकर तद्नुरूप जीवनचर्या का निर्धारण किया है। इतने भर से आगे की सारी बात बन जाती है। सही दिशा में प्रवाह चल पड़े तो अंतत: उसकी समाप्ति समुद्र मिलन के रूप में ही होगी। जिन भव-बंधनों को समस्त संकटों का, पतन-पराभवों का आधारभूत कारण माना जाता है, वे और कुछ नहीं, मात्र आत्म विस्मृति के रूप में-निकृष्ट दृष्टिकोण के रूप में अंतराल पर चढ़े हुए कषाय-कल्मष भर हैं।

अपने आपे को विस्मृत कर देने के उपरांत तो मात्र भटकाव ही भटकाव शेष रह जाता है। कस्तूरी मृग की निराशा और मृग तृष्णा की थकान की कथा प्रसंगों में बार-बार चरचा होती रहती है। सियारों के झुंड में पले सिंह-शावक का जल में परछाई देखकर आत्मबोध होने और पिछला स्वभाव तत्काल बदल देने वाले दृष्टांत सभी ने सुने हैं। इन उद्धरणों में उपनिषद्कार का वही उद्‌बोधन झाँकता है जिसमें—"आत्मा वाऽरे ज्ञातव्य......." आदि की हुंकार है। गीताकार ने भी इसी आशय का मन्तव्य देते हुए कहा है—"उद्धरेत् आत्मनात्मानं....."। यह आत्मदर्शन ही प्रकारांतर से ईश्वर दर्शन है। इसी उपलब्धि को जीवन्मुक्ति कहा गया है। जीवन लक्ष्य का चरम बिन्दु यहाँ पहुँचने पर समाप्त होता है।

'आत्मदर्शन' शब्द रहस्यवादिता के भ्रम-जंजाल में फँसकर कुछ ऐसा बन गया है मानो किसी जादुई दृश्य को देखने और आश्चर्यचकित रह जाने जैसी कौतुक भर स्थिति-परिस्थिति की चरचा की जा रही हो। ऐसा प्रतीत होता है आत्मा कोई अद्‌भुत आकृति की अंतरिक्ष वासिनी देवी होगी जो बिजली कौंधने की तरह साधक को अपनी छवि दिखाकर-वरदानों का पिटारा उस पर उँड़ेलकर फिर आकाश में विलुप्त हो जाती होगी। इन बाल कल्पनाओं के लिए तो कोई क्या कहे? पर जिन्हें तत्त्वदर्शन समझने का-

ब्रह्मविद्या के प्रतिदानों में प्रवेश करने का अवसर मिला है-जो बौद्धिक दृष्टि से परिपक्व माने जा सकते हैं, उन्हें इस तथ्य को समझने में कहीं कोई भ्रम नहीं रहना चाहिए कि अदृश्य आत्मा का दृश्यमान स्वरूप ही 'जीवन' है। उसी को आत्मसत्ता के रूप में-व्यक्तित्व की समग्रता के रूप में देखा-समझा जा सकता है। निराकार आत्मा का सही साकार रूप जीवन देव ही है। आत्मदेव की तुलना वेदांत ग्रंथों में कल्पवृक्ष से की गई है और कहा गया है कि उसकी आराधना करने वाले की सभी मनोकामनाएँ पूर्ण होकर रहती हैं। इसी आत्मदेव को 'अयमात्मा ब्रह्म-सच्चिदान्दोऽहम्' कहकर उसी की उपासना करने का निर्देश दिया गया है। "प्रज्ञानं ब्रह्म, तत्त्वमसि, शिवोऽहम्", जैसे सूत्र संकेतों में इसी तथ्य का प्रतिपादन है कि अपना परिष्कृत आपा ही सुविकसित, सुसंस्कृत स्थिति में पहुँचने पर परब्रह्म परमात्मा की भूमिका निभाने लगता है। नर-पिशाच, नर-पशु, नर-कीटक की स्थिति तो तभी तक रहती है जब तक अपने आपे का बोध नहीं होता।

दुनियादारी पर छाई रहने वाली दुर्बुद्धिजन्य दुर्गति से उबारने में वेदांत की शिक्षा ही समर्थ नौका का काम देती है। तत्त्वदर्शन को अपनाने से आत्मबोध उभरता है। अपनी स्थिति का सही ज्ञान होता है। लगता है कि अज्ञान आच्छादन से छुटकारा पाना ही परम पुरुषार्थ कहा गया है। यही चरम सौभाग्य है। इसी एक साधन के सधने से असंख्य विपत्तियों से छुटकारा मिलता है और समस्त सिद्धियों का द्वार खुलता है। ब्रह्मविद्या की उपनिषद् चरचा में अनेकानेक तर्कों, तथ्यों व मार्ग-उपचारकों के माध्यम से श्रेयार्थी को एक ही शिक्षा-एक ही प्रेरणा दी गई है कि वह माया-बंधनों से मुक्त होने का प्रयत्न करे। 'माया' अर्थात अपने को शरीर मानने की, उसे ही वासना-तृष्णा से पोसने की ललक-लिप्सा। इस नरक-दलदल से उबरने-उछलने की साहसिकता, दूरदर्शिता उभारने के लिए ही कई प्रकार के योगाभ्यास-तप साधन किए जाते हैं। स्वाध्याय,

सत्संग, चिंतन, मनन के चारों प्रयोग उपचार इसी एक आवश्यकता की पूर्ति में नियोजित किए जाते हैं।

वेदांत चिंतन का समुद्र-मंथन साधनावधि में चलते रहने पर जिस सर्वोपरि उपहार की, अनुदान की उपलब्धि होती है उसे 'अमृत' कहते हैं। अमृत अर्थात आत्मबोध अर्थात जीवन संपदा की उच्चस्तरीय ईश्वरीय अनुदान के रूप में मान्यता। इसका श्रेष्ठतम सदुपयोग कैसे बन पड़े इसी चिंतन, मंथन और निर्धारण को ब्रह्मविद्या का सार समझना चाहिए। इसी से आध्यात्मिक काया-कल्प रूपी सिद्धि अनुदान की प्राप्ति होती है।

कल्प साधना का उद्देश्य और स्वरूप

यह एक सुविदित तथ्य है कि संचित पापकर्मों का प्रतिफल रोग, शोक, विक्षोभ, हानि एवं विपत्ति आदि के रूप में उपस्थित होता है। विपत्तियों को भुगतने का मूल आधार मनुष्य का भ्रष्ट चिंतन एवं दुष्ट आचरण ही होता है। पापकर्म के बीज सर्वप्रथम दुष्प्रवृत्ति बन कर अंकुर की तरह उगते हैं। उसके बाद वे पेड़-पौधे बनकर फलने-फूलने योग्य जब तक नहीं होते तब उनका स्वरूप पतन-पराभव के रूप में दृष्टिगोचर होने वाले दुराचरण जैसा होता है। कालांतर में जब वे परिपुष्ट परिपक्व हो जाते हैं तो आधि-व्याधि, विपत्ति, हानि, भर्त्सना के रूप में कष्ट देने लगते हैं। दुष्कर्मों के अकाट्य प्रतिफल से बचने का दैवी प्रकोप एवं सामाजिक प्रताड़ना के अतिरिक्त दूसरा मार्ग प्रायश्चित का है। इसका आश्रय लेकर मनुष्य आत्मशोधन और आत्मपरिष्कार का दुहरा प्रयोजन एक साथ पूरा कर सकता है।

प्रगति पथ पर चलने के लिए व्यक्ति को तप साधना करनी पड़ती है। उसके स्वरूप दो ही हैं। पहला है—आंतरिक अवरोधों से पीछा छुड़ाया जाए और दूसरा है—आत्मबल पर आश्रित अनुकूलताओं को अर्जित किया जाए। यही है आत्मिक पुरुषार्थ का एकमात्र और वास्तविक स्वरूप। यात्री को एक पैर उठाना

और दूसरा बढ़ाना पड़ता है। उठाने का तात्पर्य है—कुसंस्कारों को छोड़ा जाए—उसके लिए कठोर तप किया जाए। बढ़ाने का अर्थ है—सत्प्रवृत्तियों को स्वभाव एवं आचरण में घुला दिया जाए। कच्ची धातुएँ अपनी सामान्य स्थिति में प्रयुक्त नहीं होतीं। उन्हें बहुमूल्य उपकरण के रूप में परिवर्तित करने के लिए प्रचंड ताप की भट्टी द्वारा गलाई-ढलाई करनी पड़ती है। गलाई को 'तप' और ढलाई को 'योग' कहते हैं। कल्प-साधना में तप और योग दोनों का समावेश है। इसकी समूची प्रक्रिया में पग-पग पर परिशोधन और परिष्कार के उभयपक्षीय तत्त्व पूरी तरह गुंथे हुए हैं।

उपवास एवं सुसंस्कारी अन्न से काय शोधन होता है और मन:क्षेत्र में प्रज्ञा का आलोक बढ़ता है। शरीर कल्प के यही दो आधार हैं। आत्मिक काया-कल्प के लिए भी शरीर का तप तितिक्षा के आधार पर ही परिशोधन होता है। यह प्राथमिक अनिवार्यता मानी जानी चाहिए। उपवास पर आधारित आहार चिकित्सा को कायिक निरोगता का मूल आधार माना जा सकता है। पेट का भार हल्का रहने और सहकारी न्यूनतम आहार से गुण, कर्म, स्वभाव पर उपयोगी प्रभाव पड़ने का प्रत्यक्ष लाभ स्वास्थ्य सुधार के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार इंद्रिय संयम, अर्थ-संयम और विचार संयम का अभ्यास करने से अवांछनीय दुष्प्रवृत्तियों से सहज ही छुटकारा मिल जाता है। अंधकार हटना और प्रकाश बढ़ना एक ही बात है। कुसंस्कार घटेंगे तो आंतरिक प्रखरता स्वयमेव बढ़ेगी। इसके अतिरिक्त उन दिनों आंतरिक परिवर्तन हेतु जो भावनात्मक प्रयत्न होते हैं और योगाभ्यास सम्मत अतिरिक्त प्रयास भी चलते हैं, वह अभ्युदय-उत्कर्ष की सशक्त प्रक्रिया है।

अन्न को वस्तुतः ब्रह्म एवं प्राण की उपमा दी गई है। उपनिषद्कार ने अन्न ब्रह्म की उपासना करने के लिए साधकों को सहमत करने पर अनेकानेक तर्क, तथ्य एवं प्रमाण प्रस्तुत किए हैं।

आमतौर से आहार द्वारा क्षुधानिवृत्ति एवं स्वाद-तृप्ति-भर की बात सोची जाती है। वास्तव में यह मान्यता सर्वथा अधूरी है। भोजन प्रकारांतर से जीवन है। उसकी आराधना ठीक प्रकार की जा सके तो शरीर को आरोग्य, मस्तिष्क को ज्ञान-विज्ञान, अंत:करण को देवत्व के अनुदान, व्यक्तित्व को प्रतिभा तथा भविष्य को उज्ज्वल संभावनाओं से जाज्वल्यमान बनाया जा सकता है।

मन को सात्विक बनाना आत्मोष्कर्ष की दृष्टि से अत्यंत आवश्यक है, इसलिए कहा गया है। "जैसा खाए अन्न वैसा बने मन"। यहाँ अन्न से अर्थ है साधक का आहार। आहार शुद्धि साधना का प्रथम चरण है। तमोगुणी, उत्तेजक, अनीति उपार्जित, कुसंस्कारियों द्वारा पकाया-परोसा भोजन न केवल मनोविकार ही उत्पन्न करता है वरन रक्त को अशुद्ध, पाचन को विकृत करके स्वास्थ्य संकट भी उत्पन्न करता है। आत्मिक प्रगति में, साधना की सफलता में तो कुधान्य का, अभक्ष्य का प्रभाव विषवत पड़ता है। मन की चंचलता इतनी अधिक हो जाती है कि सामान्य कार्यों में भी एकत्रित हो पाना संभव नहीं हो पाता। फिर साधना में अभीष्ट मनोयोग तो आहार शुद्धि बिना कैसे प्राप्त हो?

पिप्पलाद ॠषि पीपल वृक्ष के फल खाकर निर्वाह करते थे। कणाद ॠषि जंगली धान्य समेटकर उससे क्षुधा शांत करते थे। भीष्म पितामह शर-शैय्या पर पड़े हुए धर्मोपदेश दे रहे थे, तब द्रोपदी ने पूछा—"देव, जब मुझे भरी सभा में नग्न किया जा रहा था तब आपने कौरवों को यह उपदेश क्यों नहीं दिए?"

वे बोले—"उन दिनों मेरे शरीर में कुधान्य से उत्पन्न रक्त बह रहा था, अस्तु बुद्धि भी वैसी ही थी। अब घावों के रास्ते वह रक्त निकल गया और मेरी स्थिति सही सोचने एवं सही परामर्श देने जैसी बन गई।" रुक्मिणी का जंगली बेर खाकर तथा पार्वती का सूखे पत्तों पर रहकर तप करना प्रसिद्ध है। उच्चस्तरीय

साधनाओं में व्रत-उपवास का अविच्छिन्न स्थान है। साधना में मन का सात्विक होना आवश्यक है। मन को शांत, स्थिर एवं सात्त्विक बनाने के लिए उपवास पर, अन्न की सात्विकता पर ध्यान देना अति आवश्यक है।

कल्प साधना वस्तुतः उपवास प्रधान है। इसका एक स्वरूप चांद्रायण साधना के रूप में देखने को मिलता है। चांद्रायण का सर्वविदित नियम-अनुशासन पूर्णिमा से अमावस्या तक भोजन घटाने और तदुपरांत क्रमशः बढ़ाते हुए अगली पूर्णिमा को नियत मात्रा तक ले पहुँचना है। इसमें मन का कठोर संयम जिस प्रकार संभव हो पाता है, वह अन्य साधनाओं में नहीं है। यह क्रम पुरातन काल के साधकों के मनोबल और उनकी शरीरगत सामर्थ्य को देखकर ठीक भी था, पर अब बदली परिस्थितियों में जहाँ मनुष्य की जीवनी शक्ति उतनी नहीं रही, पर्यावरण के परिवर्तन उसे जल्दी-जल्दी प्रभावित भी करते हैं, उतनी कठोर साधना संभव नहीं। फिर भी उपवास का महत्त्व जहाँ का तहाँ रहेगा। आरोग्य रक्षा की दृष्टि से भी अन्य श्रमिक-मजदूरों की तरह पेट को सप्ताह में एक बार छुट्टी मिलनी ही चाहिए। ऐसा न रहने पर उसकी कार्य क्षमता घटती है तथा शरीर में विजातीय द्रव्य एकत्र होते चले जाते हैं।

पूर्ण उपवास न बन पड़े तो कम-से-कम यह संभव है कि कल्प की अवधि में आधे या कम आहार पर निर्वाह कर लिया जाए। शाकाहार, फलाहार, अन्नाहार में से किसी एक का चयन कर उसे ही नियत मात्रा में नित्य लेते रहने का चांद्रायण साधना में प्रावधान है। इसे एक प्रकार का मृदु चांद्रायण कहा जा सकता है। भाँति-भाँति के सम्मिश्रणों से बदलकर साधक यदि एक ही अन्न या शाक पर कल्प कर लें तो आहार शुद्धि, आंतरिक काया-कल्प, आरोग्य प्राप्ति के सभी प्रयोजन पूरे होते हैं।

आहार इन दिनों जो लिया जाए, वह सामान्य से आधा या और भी कम हो। सात्विक हो-सुपाच्य हो। इसके लिए भाप के माध्यम

से पकाए गए अन्न को वैज्ञानिक-शास्त्रीय दोनों ही मतों से श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

चिकनाई-मसाले और शक्कर, नमक आदि का आदी मन तथा शरीर उस ढर्रे को सहज ही तोड़ नहीं पाता। पर धीरे-धीरे कल्पकाल के शोधित स्वादहीन आहार में ही ऐसी रुचि विकसित होने लगती है, मानो साधक प्रत्यक्ष औषधि ही अपनी जीवनी शक्ति बढ़ाने के लिए ग्रहण कर रहे हैं। संतुलित आहार के नाम पर विविधताएँ जुटाना व्यर्थ है। हर उपयुक्त खाद्य पदार्थ में वे सभी तत्त्व पाए जाते हैं जिनकी शरीर को आवश्यकता है। निर्धारित कल्प साधना में हविष्यान, अमृताशन, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, मक्का, चावल आदि ऋषि-धान्यों को अकेले अथवा शाकपत्तियों के साथ भाप के माध्यम से पकाकर दिन में दो बार नियत से आधी मात्रा में ग्रहण करने का प्रावधान है। इससे कम में वह मनोबल नहीं जुट पाता जो निष्कासन प्रक्रिया तथा नवीन निर्धारण—जीवन दृष्टि के विकास हेतु जरूरी है। आज की परिस्थितियों के अनुरूप यह साधना हर दृष्टि से साधक को आमूलचूल बदल देने वाली प्रक्रिया के लिए उसे समर्थ-शक्तिसंपन्न बना देने वाली मानी जानी चाहिए।

आहार साधना के अतिरिक्त तप-तितिक्षा में प्रायश्चित की चरचा की जाती है। इसके बिना, अपना मन अंतःकरण धोए, विगत को भुलाए बिना साधना मात्र वाह्योपचार भर रह जाती है। 'कल्प-साधना' का अर्थ ही यह है कि अंदर से बाहर तक साधक पूरी तरह बदल जाए। पुरानी केंचुली निकाल फेंके, नूतन चोला पहने। प्रायश्चित इसीलिए किया जाता है और उसकी महत्ता को शास्त्रों ने इसी कारण अत्यधिक माना है, उस पर पूरा जोर दिया है।

प्रायश्चित में तीन पक्ष हैं, एक व्रत उपवास जैसी तितिक्षा। दूसरा संचित कुसंस्कारों को उखाड़ने और उस स्थान पर उच्च-स्तरीय शालीनता को स्थापित करने का अंतर्मुखी पुरुषार्थ। तीसरा-

खोदी हुई खाई को पाटने वाली क्षतिपूर्ति के लिए पुण्य-परमार्थ का उदार साहस। इन तीनों के संयुक्त समावेश से ही प्रायश्चित की पूर्ण प्रक्रिया-सधती है। मात्र आहार करने भर से तो कल्प प्रक्रिया का एक छोटा भाग ही सधता है।

इस साधना को एक प्रकार के आयुर्वेदीय काया-कल्प उपचार के समान समूचे व्यक्तित्व का संशोधन-संवर्द्धन करने वाली प्रक्रिया कह सकते हैं। इतने पर भी कल्प के भौतिक सिद्धांत दोनों में ही एक जैसे हैं। एकांत सेवन, आहार संयम तथा निर्धारित चिंतन, यही आधार कल्प साधना के भी हैं। रोगी अपने रोग का स्वरूप ही नहीं, इतिहास भी चिकित्सक को बताता है। उसी निदान के आधार पर उपचार की व्यवस्था बनती है। कल्प प्रक्रिया में मार्गदर्शक को अपने संचित पाप कर्मों का विस्तृत वर्णन-स्वभावगत दोष-दुर्गुणों का परिचय एवं भौतिक-आत्मिक अवरोधों का विवरण प्रस्तुत करना पड़ता है। इन दोनों पक्षों पर गंभीर विचार करने के उपरांत ही हर व्यक्ति को कुछ विशेष परामर्श दिए जाते हैं, उपाय-उपचार बताए जाते हैं। कल्प साधना में सामान्य उपचार तो एक जैसे हैं किंतु साथ ही हर साधक की स्थिति के अनुरूप उसे कुछ अतिरिक्त उपाय साधन भी बताए जाते हैं, इन निर्धारणों को कौतुक-कौतुहल एवं बेगार जैसी चिन्ह पूजा नहीं बनाया जाता, लकीर पीटने भर की आधी-अधूरी, लँगड़ी-लूली प्रक्रिया अपनाने से इतना बड़ा प्रयोजन पूरा नहीं होता। उसमें गंभीर होना पड़ता है और निर्धारित अनुशासन का कठोरतापूर्वक परिपालन करना पड़ता है।

यह कल्प साधना घर के व्यस्त-अभ्यस्त वातावरण में नहीं हो सकती। उपवासपूर्वक अनुष्ठान तो आए दिन होते रहते हैं। अंतः के कायाकल्प की साधना उससे आगे की चीज है, इसके लिए तद्नुरूप तीर्थ जैसा पवित्र वातावरण, उपयुक्त साधन एवं ऋषि-कल्प मार्ग दर्शन चाहिए। यह आवश्यकता शांति कुंज, गायत्री नगर में जैसी अच्छी तरह संपन्न हो सकती है वैसी सुविधा कहीं अन्यत्र

मिल सकना कठिन है। पूर्ण कल्प साधना एक महीने की होती है। और लघु 'शिशु' साधना दस दिन की। दोनों में समय का ही अंतर है। विधान-अनुशासन दोनों में एक जैसे हैं। सबसे महत्त्व की बात यह है कि शरीरगत अनुबंधों की निर्धारित दिनचर्या अपनाए रहने के अतिरिक्त मानसिक स्थिति बनानी पड़ती है, मानो किसी अन्य लोक में उन दिनों रहा जा रहा है। इन दिनों सांसारिक चिंतन को एक प्रकार से विस्मृत ही कर देना चाहिए और मात्र अध्यात्म लोक की आवश्यकताओं तथा अंत:क्षेत्र की समस्याओं को हल करने में ही चित्त को पूरी तरह केंद्रित रखना चाहिए। भौतिक जीवन की समस्याएँ इतनी विकट होती हैं कि उन्हें सुलझाने साधन जुटाने में प्राय: समूची जीवन अवधि खप जाती है। फिर आत्मिक जीवन तो और भी व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण है। उसकी गुत्थियाँ सुलझाने और प्रगति के संरजाम जुटाने हेतु नए सिरे से नया दृष्टिकोण तथा नया साहस जुटाना होता है, इतने बड़े काम के लिए निर्धारित साधना का स्वरूप यही है कि उसमें से भौतिक चिंतन एवं प्रयोजनों में भी प्रयास के लिए तनिक भी कोशिश न की जाए तथा मनोयोग को निर्धारित प्रयोजनों में जुटाए रखा जाए। मन को अन्य किसी कार्य में अस्त-व्यस्त नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार चान्द्रायण साधना को 'व्रत', 'तप' एवं 'कल्प' के नाम से भी जाना जाता है। 'व्रत' अर्थात संयम, अनुशासन, निर्धारण एवं परिपालन। 'तप' अर्थात संचित कुसंस्कारों से संघर्ष और शालीनता के अवधारणा का अभ्यास-पुरुषार्थ। 'कल्प' अर्थात पिछली हेय स्थिति को उलट कर उस स्थान पर उत्कृष्टता का प्रतिष्ठापन। यह तीनों ही प्रयास परस्पर मिलते हैं, तो ज्ञान और कर्म की गंगा-यमुना मिलने से एक नई धारा भक्ति भावना की-दिव्य जीवन की सरस्वती के रूप में उद्भूत होती है। इस समन्वय से त्रिवेणी-संगम बनता है। उसका अवगाहन करने वाले इस धरती पर स्वर्ग का आनंद लेते हैं, जीवन मुक्त बनते हैं और मनुष्य रूप में देवता

कहलाते हैं। इसी परम लक्ष्य की पूर्ति करना आंतरिक काया-कल्प साधना का आधार भूत उद्देश्य है।

संक्षप में कल्प साधना के तीन पक्ष हैं—संयम-साधना, प्रज्ञा उपासना, भविष्य निर्धारण की आराधना। संयम साधना में उपवास प्रमुख है। इस अवधि में आहार सामान्य की तुलना में आधा ही लिया जाता है। जो खाया जाए वह पूर्ण सात्विक एवं सुसंस्कारी हो, इसका ध्यान रखा जाता है। संयम को ही तप कहते हैं। सामान्य जीवन में यह तप चार प्रकार का अपनाया जाता है। (१) इंद्रिय संयम के लिए ब्रह्मचर्य, मौन, अस्वाद अदि की तितीक्षा, (२) अर्थ संयम के लिए मितव्यता। परिश्रमशीलता अपना कर सादा जीवन उच्च विचार का अभ्यास, (३) समय संयम-एक घड़ी भी आलस्य प्रमाद में बरबाद न होने देना। दिनचर्या बनाकर उसके परिपालन में तत्परता बरतना, (४) विचार चिंतन को अस्त-व्यस्त उड़ानें भरने से रोकना, सौंपे हुए काम में ही मनोयोग नियोजित रखना। चान्द्रायण में यह चारों ही संयम साधनाएँ-तपश्चर्या के रूप में निर्धारित करनी होती हैं। तपस्वी सच्चे अर्थों में सामर्थ्यवान बनता है। उसकी ऊर्जा से प्रखरता परिपक्वता बढ़ती है, तपस्वी ही शरीरगत ओजस्, तेजस् एवं अंत:करण के वर्चस् से सुसंपन्न बनते हैं। इसी आत्मबल के सहारे ऋद्धि-सिद्धियों का द्वार खुलता है। प्रज्ञा उपवास में गायत्री पुरश्चरण मुख्य है। ढाई घंटा नित्य समय इसके लिए नियत है। इसी बीच निर्धारित जप संख्या पूरी की जाए। साथ ही प्रभातकालीन सूर्य किरणों के तीनों शरीर में प्रवेश करने का ध्यान किया जाए। अनुभव किया जाए कि गायत्री के प्राण सविता देवता का दिव्य आलोक जीवन सत्ता के कण-कण में प्रवेश करके तीन अनुदान प्रदान कर रहा है। स्थूल शरीर में सद्कर्म, सूक्ष्म शरीर में, सद्ज्ञान, कारण शरीर में सद्भाव। इन्हीं तीनों को क्रमश: निष्ठा-प्रज्ञा और श्रद्धा भी कहते हैं। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग

के अंतर्गत इन्हीं दिव्य अनुदानों का विवेचन किया जाता है और तृप्ति, तुष्टि, शांति की त्रिविध विभूतियों के सहारे देवोपम जीवन जी सकने का लाभ समझाया जाता है। जिनको यह दिव्य संपदा जितनी मात्रा में उपलब्ध होती है वह उसी अनुपात में आत्म संतोष, जन सहयोग एवं दैवी अनुग्रह का प्रतिफल हाथों-हाथ प्राप्त करता है। ऋतंभरा प्रज्ञा ही गायत्री है। प्रज्ञा-अर्थात दूरदर्शी विवेकशीलता, यही है मनुष्य का आराध्य। इस दिशा में होने वाली प्रगति से इसी जीवन में स्वर्ग और मुक्ति के रसास्वादन का लाभ मिलता है।

भविष्य निर्धारण की आराधना के निमित्त इस अवधि में स्वाध्याय, सत्संग और अंतर्मुखी चिंतन-मनन के चार प्रयोजनों में निरत रहना पड़ता है। नित्यकर्म उपासना के अतिरिक्त जो भी समय खाली मिले उसमें उन्हीं चार प्रयोजनों में मन को लगाए रहना पड़ता है। इन चारों का लक्ष्य एक ही है—परिष्कार एवं उज्ज्वल भविष्य का योजनाबद्ध निर्धारण। इसके लिए आत्म निरीक्षण, आत्म-सुधार, आत्म निर्माण एवं आत्म विकास के चार प्रसंगों पर गंभीरता पूर्वक समुद्र मंथन जैसा आत्मचिंतन करते रहना होता है, ताकि ईश्वर प्रदत्त अलभ्य उपहार-मनुष्य जन्म का सही उपयोग संभव हो सके। इसके लिए शरीर निर्वाह एवं परिवार पोषण की तरह ही परमार्थ प्रयोजनों को महत्त्व देना होता है। आत्मकल्याण और लोक मंगल की समन्वित जीवनचर्या का निर्धारण एवं सतत अभ्यास ही आराधना है।

परमात्मा को आदर्शों का समुच्चय मानकर उसके साथ तादात्म्य होना उपासना है। जीवन को अधिकाधिक पवित्र एवं प्रखर बनाने वाली सुसंस्कारिता का अवधारणा साधना है। लोक मंगल को परमार्थ और उसके सहारे अपनी सत्प्रवृत्तियों का संवर्द्धन ही आराधना है। उपासना परमात्मा की, साधना अंतरात्मा की और आराधना विश्वात्मा की, की जाती है। कल्प काल में

बहिर्मुखी माया प्रपंच से अवकाश प्राप्त किया जाता है और उस अवधि में अंतर्मुखी रह कर अंतर्जगत का पर्यवेक्षण किया जाता है। इस दिशा में परिवर्तन के लिए नियोजित आत्म-साधना जितनी भावपूर्ण एवं गंभीर होगी, उतना ही इस कल्प साधना का प्रत्यक्ष वरदान उपलब्ध होगा।

आध्यात्मिक कायाकल्प की साधना का तत्त्वदर्शन

आयुर्वेदीय शरीर कल्प की तरह आध्यात्मिक भाव-कल्प को उसके ही समानांतर समझा जाना चाहिए। एक में काया को दुर्बलता, रुग्णता, जीर्णता आदि अनपेक्षित परिस्थितियों से मुक्त किया जाता है। दूसरे में आस्था, आकांक्षा एवं अभ्यास पर चढ़ी हुई कुसंस्कारिता से त्राण पाने का प्रयत्न किया जाता है।

शरीर की प्रकृति संरचना ऐसी अद्भुत है कि यदि उस पर असंयम-जन्य अस्त-व्यस्तता न लादी जाए तो वह शतायु की न्यूनतम परिधि को पार करके सैकड़ों वर्ष जी सकता है। मरण तो प्रकृति धर्म है, पर जीर्ण-शीर्ण होकर जीना-यह मनुष्य का अपना उपार्जन है। आरंभ से ही सुपथ पर चला जाए, तब तो कहना ही क्या, अन्यथा मध्यकाल में रुख बदल दिया जाए तो भी ऐसा सुधार हो सकता है जिसे अद्भुत, अप्रत्याशित कहा जा सके।

चेतना तंत्र की संरचना भी ऐसी ही है। ईश्वर का अंग होने के कारण उसमें सभी उच्चस्तरीय विभूतियाँ भरी पड़ी हैं। पिंड ब्रह्मांड का छोटा रूप है। परमात्मा की छोटी प्रतिकृति आत्मा है। शरीर में वे सभी तत्त्व विद्यमान हैं जो प्रकृति के अंतराल में बड़े एंव व्यापक रूप में पाए जाते हैं।

काय साधना से न केवल आरोग्य लाभ मिलता है, वरन तपश्चर्या की ऊर्जा से तपा, पकाकर ऐसा भी बहुत कुछ पाया जा सकता है जो प्रकृति की रहस्यमय परतों में खोया पाया जा सकता है। सिद्ध पुरुषों का प्रकृति पर आधिपत्य होता है। इसका आधारभूत

कारण यह है कि काया में उन्हीं रहस्यों की बीज रूप में उपस्थिति को कृषि कार्य के साधनों से विकसित कर लिया जाता है फलतः काया समूची माया का प्रतिनिधित्व करने लगती है। जिस प्रकार पृथ्वी के ध्रुव केंद्र व्यापक ब्रह्मांड से अपनी आवश्यक सामग्री खींचते-उपयोग करते रहते हैं, उसी प्रकार सिद्ध पुरुषों की काया न केवल ब्रह्मांड व्यापी माया से, प्रकृति से आदान-प्रदान करती है, वरन चेतनात्मक विशेषता के कारण कई बार उस पर आधिपत्य भी करने लगती है। तपस्वियों की अलौकिक चमत्कारी सिद्धियों का यही रहस्य है।

आत्मा के नाम से पुकारे जाने वाली ब्रह्म ऊर्जा की छोटी चिनगारी का मौलिक स्वरूप भी वैसा ही है। पतित, पराजित तो उसे कषाय कल्मषों का आवरण करता है। दर्पण के सामने जो भी वस्तु आती है उसी का प्रतिबिंब दीखने लगता है। यदि परदा हटा दिया जाए तो दृश्य बदलते देर न लगे। नर और नारायण की एकता के दृश्यमान होने में एक ही व्यवधान है-संचित कुसंस्कारिता। चिंतन पर चढ़ी हुई और व्यवहार-अभ्यास में भरी हुई निकृष्टता को किसी प्रकार निरस्त किया जा सके तो आत्मा का मौलिक स्वरूप प्रकट होने में देर न लगे।

पुरुष -पुरुषोत्तम की, जीव-ब्रह्म की, नर-नारायण की एकता का प्रतिपादन काल्पनिक नहीं है। योगीजनों के प्रमाण-उदाहरण सामने है। उन्हें ईश्वर नहीं तो ईश्वरवत्-ईश्वर का प्रनिनिधि-तो माना ही जाता है। इस स्थिति को प्राप्त कर सकना किसी के लिए भी संभव है। मनुष्य शरीर में अनेकों देवदूत समय-समय पर आए हैं और ऐसे काम कर गए हैं जिससे उन्हे अवतार की-भगवान की-मान्यता मिली। इस स्थिति को उपलब्ध करने में किसी दैवी वरदान की आवश्यकता नहीं पड़ती। मनुष्य अपने ही पराक्रम पुरुषार्थ से कषाय-कल्मषों के आच्छादन तोड़ता है और चक्रव्यूह बेधकर बाहर जा निकलता है। चक्र वेधन जैसी प्रक्रियाएँ भव-बंधनों की

जकड़न तोड़ने और चक्रव्यूह से बाहर निकलने की भावनात्मक प्रक्रिया हैं। इसे पूरी करने वाले योगी उस जीवन-मुक्त स्थिति को प्राप्त करते हैं जिसका सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य नाम से वर्णन-विवेचन किया जाता है।

योग किसी शारीरिक या पदार्थ परक हलचल का नाम नहीं है जैसा कि आमतौर से आसन-प्राणायाम या नेति-धौति आदि के नाम से जाना बताया जाता है। ये शरीर और मन के व्यायाम भर हैं जो प्रकारांतर से आत्म-परिष्कार में सहायक सिद्ध होते हैं। तत्वत: योग अंतराल पर चढ़े हुए अवांछनीय आच्छादानों को हटाने और उनके स्थान पर उच्चस्तरीय परिधान पहनाने की भावनात्मक प्रक्रिया है। उसमें अभ्यस्त आदतों के रूप में स्वभाव का अंग बनी हुई कुसंस्कारिता की जड़ें काटनी पड़ती हैं और उन झाड़-झंखाड़ों के स्थान पर उच्चस्तरीय आस्थाओं को अंतराल में उगाना-परिपुष्ट करना होता है। अंत:क्षेत्र का यह समुद्र मंथन ही योग है। खारे निषिद्ध जलाशय को मथकर किसी समय विष वारुणी को हटाया और अमृत जैसी अनेकों विभूतियों को हस्तगत किया गया था। योग व्यक्तिगत समुद्र मंथन है जिसकी सारी प्रक्रिया अंत:क्षेत्र में चलती है। उखाड़ने और जमाने की ऊहापोह-धातुओं की भट्टी की तरह गरम होता है और गलाने-ढालने का काया-कल्प प्रस्तुत करता है। इसी को योग साधना कहते हैं। संक्षेप में आंतरिक परिष्कार का नाम 'योग' और क्रिया-प्रक्रिया में संयम-अनुशासन का समावेश 'तप' कहा जाता है। इन प्रयोजनों की पूर्ति के लिए कुछ न कुछ प्रत्यक्ष प्रयोग-उपचार भी चलाने पड़ते हैं। कल्प साधना की क्रिया-प्रक्रिया ऐसे ही निर्धारणों से भरी पड़ी है। इतने पर भी इस तथ्य को समझ ही लेना चाहिए कि उपचारों की आवश्यकता इसीलिए पड़ती है कि व्यक्तित्व के अदृश्य स्तर का—अंतराल का कल्प परिवर्तन संभव हो सके। दृष्टिकोण और कर्म प्रवाह में निकृष्टता यथावत बनी रहे और क्रिया-प्रक्रिया के रूप में चित्र-विचित्र उपचार

चलता रहे तो समझना चाहिए जड़ की उपेक्षा करके पत्ते धोने जैसी विडंबना चल रही है।

कल्प साधकों को उपवास, जप, स्वाध्याय, सत्संग जैसे दैनिक कृत्यों की पूर्ति तो शास्त्र परंपरा के अनुसार करनी ही चाहिए, पर साथ ही यह नहीं भूलना चाहिए कि यह अवधि तत्त्वत: अंतर्जगत की गुत्थियों को सुलझाने के लिए किए जाने वाले मंथन के लिए ही है। उसी को चिंतन और मनन कहते हैं। इस क्रिया रहित प्रक्रिया को चांद्रायण कल्प का मेरुदंड आधार केंद्र कहना चाहिए।

मंथन में रई घुमाई जाती है। उसकी रस्सी एक बार आगे चलती है दूसरी बार पीछे लौटती है। पीछे लौटना चिंतन है और आगे बढ़ना मनन है। चिंतन को आत्म-समीक्षा और आत्म-सुधार कह सकते हैं। उसे तपश्चर्या की संयम-अनुशासन अपनाने की पृष्ठभूमि कहना चाहिए। क्षुद्रता को महानता के साथ जोड़ देना ही योग है। इस उद्‌देश्य के लिए कामना को भावना में-तुच्छ को महान में-सीमित को असीम में परितर्तित करना होता है। यही योग है। उसमें आस्थाएँ, आकाँक्षाएँ एवं आदतें किस प्रकार उच्चस्तरीय बन सकें इसका निर्धारण एवं कार्यान्वन करना होता है। प्रगतिक्रम को व्यवहार में उतारने की योजनाबद्ध साहसिकता की पृष्ठभूमि मनन के माध्यम से बनती है।

साधनाकाल में आस्था एवं विचारणा के क्षेत्र में नव-निर्माण का प्रयत्न पूरी तत्परता के साथ चलना चाहिए। शरीर तप अनुशासन में संलग्न रहे। समयचर्या उन्हीं अनुबंधों के शिकंजे में कसी रहे। किंतु विचार प्रवाह को भौतिक क्षेत्र से हटाकर अंतर्मुखी रहने के लिए विवश करना चाहिए। इन दिनों भौतिक क्षेत्र की चिंता-समस्याओं से उपराम ही लेना चाहिए। जो गंभीरतापूर्वक कभी सोचा ही नहीं गया, उसे इन दिनों सोचना चाहिए। जिस क्षेत्र में कभी बुहारी तक नहीं लगी-कभी दृष्टि ही नहीं गई उसे इन दिनों

साफ-सुथरा बनाने से लेकर सुंदर-सुसज्जित बनाने के लिए तत्परता एवं तन्मयता के साथ जुटे रहना चाहिए।

जप साधना के सीमित समय को छोड़ कर प्रायः सारा ही समय ऐसा है जिसमें विचार मंथन पर कोई रोकथाम नहीं है। शरीर कृत्यों के साथ-साथ चिंतन प्रवाह अपने क्षेत्र में बहता रह सकता है। हल जोतते समय किसान घर-गृहस्थी की बात सोच सकता है, तो कोई कारण नहीं कि उपवास, श्रमदान आदि करते-करते जीवन की महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार करते रहने पर कोई रोकथाम रहे। यों चिंतन-मनन के लिए कल्प में एक घंटा नित्य एक निर्धारित प्रक्रिया के रूप में निश्चित है। उस समय तो विचार-मंथन उपरोक्त दो प्रयोजनों में निरत रहना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त भी कभी भी खाली रहने या काम करते रहने की स्थिति में चिंतन-मनन का उपक्रम जारी रखा जा सकता है।

चिंतन का विषय है-आत्मशोधन। मनन का उद्‌देश्य है-आत्म-परिष्कार। दोनों को एक-दूसरे का पूरक कहना चाहिए। मल-त्याग के उपरांत पेट खाली होता है तभी भूख लगती है और भोजन गले उतरता है। धुलाई के उपरांत रंगाई होती है। नींव खोदने पर दीवार चुनी जाती है। साँस छोड़ने पर नई साँस मिलती है। प्रयाण में पिछला पैर उठता और अगला बढ़ता है। आत्म-परिष्कार प्रथम और आत्म-विकास द्वितीय है। जो लोग चित्त और चरित्र से निकृष्टता हटाने की उपेक्षा करके सीधे ईश्वर तक पहुँचने की योग सिद्धियों की बात करते हैं उन्हें हवा में तैरने वाले कल्पना लोक के पखेरू ही कहा जा सकता है। ऐसे शेखचिल्ली अध्यात्म क्षेत्र में भी कम नहीं हैं जो जिस-तिस क्रिया-प्रक्रिया को ही सब कुछ मानते हैं और श्रम-प्रयास के आधार पर ही साधना की सफलता का स्वप्न देखते हैं।

शरीर कल्प में न केवल कुटी प्रवेश करने की—नियत आहार-विहार अपनाए रहने की आवश्यकता पड़ती है वरन् उन दिनों

चिंतन के लिए भी एक नियत क्षेत्र निर्धारित रहता है। उन दिनों उसी प्रकार सोचते रहना पड़ता है ताकि कायिक परिवर्तन में चिंतन की भूमिका का भी समुचित योगदान रह सके। यदि वैसा न बन पड़े—कुटी प्रवेश की स्थिति में प्रयोग की असफलता, व्यर्थता का संदेह छाया रहे, जी घबराने लगे, उद्विग्नता छाई रहे तो समझना चाहिए कि कायाकल्प प्रयोग की सफलता संदिग्ध हो गई। ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक-कल्प-साधना के दिनों में मात्र भोजन में कटौती और जप पूरा करने की बेगार भुगती जाती रहे और आत्म-चिंतन की उपेक्षा होती रहे तो समझना चाहिए कि शरीर-श्रम का जितना लााभ हो सकता है-उतना ही मिलेगा। मनोयोग के अभाव में उस उच्चस्तरीय प्रतिफल की आशा न की जा सकेगी, जो शास्त्रकारों, अनुभवी सिद्धपुरुषों द्वारा बताई गई है।

समझा जाना चाहिए कि चिंतन का विषय अनुशासन है-इसी को संयम कहा जाता है। इंद्रिय-संयम, अर्थ-संयम, समय-संयम और विचार-संयम ये चार प्रकार के संयम हैं। अपने वर्तमान स्वभाव-अभ्यास में इन प्रसंगों में कहाँ-क्या त्रुटि रहती है, इसकी निष्पक्ष निरीक्षक एवं कठोर परीक्षक की तरह जाँच-पड़ताल की जानी चाहिए। आत्म-पक्षपात मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्गुण है। दूसरों के दोष ढूँढ़ना-अपने छिपाना आम लोगों की आदत होती है। कड़ाई से आत्म-समीक्षा कर सकने की क्षमता आध्यात्मिक प्रगति का प्रथम चिन्ह है। पाप-कर्मों का प्रकटीकरण और प्रायश्चित का साहस इस बात का चिन्ह है कि इस क्षेत्र में प्रगति की आवश्यक शर्त को समझा और अपनाया जा रहा है। इसी शृंखला का अगला कदम स्वाध्याय-सत्संग के द्वारा बाहरी प्रकाश-परामर्श प्राप्त करना है। उसी प्रक्रिया का सूक्ष्म रूप चिंतन-मनन है। चिंतन में गुण, कर्म, स्वभाव में घुसी हुई अवांछनीयताओं को बारीकी से ढूँढ़ निकालने का पर्यवेक्षण करना होता है। साथ ही उन्हें किस प्रकार निरस्त किया जाए-यह न केवल सोचना होता है वरन उसके लिए दिनचर्या का ऐसा ढांचा बनाना होता

है जिसे अपनाकर उपरोक्त चारों संयमों का क्रमबद्ध अभ्यास चलता रहे। आदतों को बदलने के लिए उनकी प्रतिद्वंद्वी आदतों को दैनिक व्यवहार में सम्मिलित करना होता है, असंयम की गुंजाइश जिन कारणों से–जिन कार्यक्रमों से बनती है– उनको भी बदलतना होता है। व्यवहार बदलने पर ही आदतें बदलने की बात बनती है। इसीलिए होना यह चाहिए कि असंयमों का अभ्यास तोड़ने वाला चारों क्षेत्रों का एक निश्चित कार्यक्रम बनाया जाए और उसका परिपालन कठोरतापूर्वक आरंभ कर दिया जाए। कल्पावधि इस अभ्यास के लिए प्रभात काल की तरह सौभाग्य बेला समझी जानी चाहिए। इन दिनों अंत:करण के आधार पर स्वेच्छा से उपरोक्त चार संयमों के कठोर परिपालन की व्यवस्था बनाई जाए। साथ ही यह भी निश्चित किया जाए कि इन निर्धारणों को घर लौटने पर भी भविष्य में नियमित रूप से जारी रख जाएगा। इस निश्चय पर उसी प्रकार आरूढ़–व्रतशील रहना चाहिए जिस प्रकार विवाह होने पर पति–पत्नी एक–दूसरे का आजीवन निर्वाह करते हैं।

अब मनन का प्रश्न आता है। उपलब्ध साधनों को आत्म–कल्याण के लिए उसी प्रकार प्रयुक्त करने का निश्चय करना चाहिए जिस प्रकार कि शरीर निर्वाह एवं परिवार–पोषण के लिए किया जाता है। दोनों के बीच विभाजन रेखा बननी चाहिए। जीवन व्यवसाय में आत्मा और शरीर की साझेदारी न्यायपूर्वक चलनी चाहिए। दोनों के योगदान से ही यह व्यवसाय चलता है तो लाभांश भी दोनों में विभाजित–वितरित होना चाहिए।

मनुष्य के पास कई प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष संपदाएँ हैं। श्रम, समय, चिंतन एवं साधन के रूप में ये चारों हर किसी के पास समान रूप से विद्यमान हैं। इन्हीं के बदले विभिन्न प्रकार की संपदाएँ, विभूतियाँ, सफलताएँ अर्जित की जाती हैं। विशेष चातुर्य कौशल न सही, इन चारों की सामान्य मात्रा हर किसी को उपलब्ध है। होना यह चाहिए कि इनका विभाजन–उपयोग शरीर के लिए ही नहीं, आत्मा के

लिए भी होने लगे। यह तभी संभव है जब उपरोक्त क्षमताएँ मात्र शरीचर्या में ही नियोजित न रहें—इनका लाभ शरीर संबंधी ही न उठाते रहें वरन होना यह भी चाहिए कि आत्म-कल्याण के लिए भी इनका उपयोग होता रहे। मनन का उद्देश्य यही है कि वह निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह फैसला करे कि जब जीवन-व्यवसाय में दोनों की पूँजी लगी हुई है-दोनों ही श्रम करते हैं तो लाभ एक पक्ष ही क्यों उठाता रहे। दूसरे को उसका उचित भाग क्यों न मिलने लगे। जो बीत गया उसकी बात छोड़ी भी जा सकती है, पर भविष्य के लिए तो यह विभाजन-रेखा बन ही जानी चाहिए कि किसे कितनी मात्रा में लाभांश उपलब्ध होता रहेगा।

पूजा-उपचार, आत्म-जागरण भर की आवश्यकता पूरी करते हैं, उनसे आत्मिक प्रगति की समग्र आवश्यकता पूरी नहीं होती। जिस प्रकार शरीर की स्नान, दाँतों को मंजन, कपड़े को धोना, कमरे को बुहारना आवश्यक है उसी प्रकार मनःक्षेत्र की स्वच्छता का दैनिक प्रयोजन पूरा होता है। जीवन-लक्ष्य की पूर्ति भजन से नहीं हो सकती। उसके लिए आत्मा को श्रद्धा, प्रज्ञा एवं निष्ठा जैसी उच्चस्तरीय आस्थाओं से अभ्यस्त कराना होता है। अभ्यास में उद्देश्य और श्रम का समन्वय होना चाहिए। शरीर को सत्प्रवृत्तियों में नियोजित करने के लिए लोकमंगल की साधना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। मनुष्य जन्म की धरोहर इसीलिए मिली है कि ईश्वर के विश्व को सुविकसित बनाने में कुशल माली की भूमिका निभाई जाए। सृष्टा की विश्व-व्यवस्था में उत्कृष्टता बढ़ाने-बनाने में सहायक की तरह हाथ बँटाया जाए। लोक मानस के भावनात्मक परिष्कार का कार्यक्रम बनाने और उनमें साधनों का महत्त्वपूर्ण भाग लगाते रहने से ही ईश्वर की इच्छा पूरी होती है, साथ-साथ आत्म कल्याण का-आत्मोत्सर्ग का प्रयोजन पूरा होता है।

परमार्थ प्रयोजन के दो लाभ हैं। पहले-दूसरे की सेवा, साधना, विश्व-व्यवस्था में योगदान। दूसरे उस आधार पर अपने

स्वभाव-अभ्यास में उत्कृष्टता का अभिवर्धन। मात्र सोचते रहने से ही स्वभाव नहीं बनता। संस्कारों में ही शक्ति होती है और वे भावना तथा क्रियाशीलता के समन्वय से ही बनते-ढलते हैं। संस्कार ही आत्मा के साथ लिपटते-घुलते हैं और उसकी प्रगति-अवगति के निमित्त कारण बनते हैं। सुसंस्कारिता अर्जित करने के लिए सेवा साधना में निरत होने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। साधु, ब्राह्मण, वानप्रस्थ, परिव्राजकों को आत्म लाभ इसीलिए मिलता है कि वे परमार्थ के माध्यम से सच्चे अर्थों में आत्म निर्माण का, आत्म विकास का क्रमबद्ध उद्देश्य पूरा करते रहते हैं और उस राजमार्ग पर चलते हुए चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। प्रत्येक भगवद्भक्त को अपनी भक्ति भावना का प्रमाण परिचय लोकमंगल की भावना में निरत रहकर देना पड़ता है। व्यस्त व्यक्ति भी यदि भावना संपन्न है तो उस दिशा से मुँह मोड़कर नहीं रह सकता।

मनन का एक ही विषय है कि जीवनचर्या में उस सेवा-साधना का समन्वय कितना, किस प्रकार किया जाए, जिससे आत्म कल्याण का जीवन लाभ मिल सके। आत्म-संतोष, आत्म सम्मान एवं दैवी अनुग्रह अर्जित करने के लिए उपासना ही पर्याप्त नहीं, इसके लिए संयम साधना और लोक मंगल की आराधना का समन्वय करके अपना प्रयास-क्रम त्रिवेणी संगम जैसा बनाना चाहिए। कल्प अवधि में भावी जीवनचर्या का शुभारंभ एवं प्राथमिक प्रयोग अभ्यास करना पड़ता है। उसकी सार्थकता तो तभी बनती है जब यह परिवर्तनक्रम आजीवन बना रहे और ठीक तरह निभता रहे।

कार्यक्रम तो आवश्यकता एवं स्थिति के अनुरूप बनते-बदलते रहते हैं। मूल प्रश्न यह है कि संपन्न करने की सामर्थ्य सामग्री कहाँ से प्राप्त हो? कहना न होगा कि इसके लिए शरीर और परिवार की लिप्सा और तृष्णा के निमित्त जो समूची शक्ति खप जाती है उसमें कटौती की जाए और आत्म-कल्याण के निमित्त जो कुछ भी नहीं

बन पड़ता, उसकी पूर्ति उस कटौती के द्वारा की जाए। प्रकारांतर से यह वही प्रक्रिया है जिसे समयदान-अंशदान के रूप में प्रत्येक जागरूक आत्मा को सनातन परंपरा अपनाने के लिए प्रशिक्षित उत्तेजित किया जाता है।

प्रज्ञा परिवार के प्राथमिक सदस्यों को न्यूतम चिन्ह पूजा की तरह एक घंटा समय और दस पैसा नित्य ज्ञान-यज्ञ के लिए लगाते रहने के लिए बाध्य किया जाता है। जागृत आत्माओं-प्राणवान प्रज्ञापुत्रों पर इससे कुछ अधिक करने का दबाब डाला जाता है। उन्हें महीने में एक दिन की आजीविका एवं अवकाश के क्षणों का महत्त्वपूर्ण अंश समयदान के रूप में देते रहने के लिए कहा जाता है। आत्मोष्कर्ष की दिशा में सच्ची आकांक्षा जगाने और यथार्थवादी तत्परता उभारने के लिए यह प्रत्यक्ष चिन्ह हैं। जिनमें ऐसा कुछ दृष्टिगोचर न हो, कृपण निष्ठुरता चट्टान की तरह अड़ी बैठी रहे, न श्रद्धा उमंगे और न उदार सेवा साधना का कोई चिन्ह उभरे तो समझना चाहिए कि ऊसर भूमि में कृषि कर्म करने-उद्यान लगाने की निरर्थक विडंबना पल रही है।

कल्प साधना में प्रायश्चित प्रसंग प्रमुख है। उसका छोटा अंश उपवास अनुष्ठान है जो मात्र थोड़े से काय-कष्ट से अति सरलतापूर्वक संपन्न हो जाता है। बड़ा काम वह है जिसमें दुष्कर्मों द्वारा समाज को पहुँचाई गई क्षति की भरपाई करनी पड़ती है अर्थात सद्प्रवृत्ति संवर्द्धन के लिए श्रमदान-अंशदान के रूप में उतनी उदारता का परिचय देना पड़ता है, जिससे खोदी गई खाई का पट सकना संभव हो सके। मनन प्रक्रिया में दोनों ही तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह निर्धारण किया जाना चाहिए कि उपलब्ध समय एवं साधनों में से कितना अंश आरंभ में एक बारगी लगाया जाना है और कितना भविष्य में किस अनुपात से नियोजित होता रहेगा।

जीवन-व्यवसाय के लाभांश का विभाजन इस प्रकार होना चाहिए कि शरीर तथा उसका संपर्क परिकर ही सब कुछ न

निगलता, हड़पता रहे, वरन उपलब्धियों का एक महत्त्वपूर्ण अंश परमार्थ प्रयोजनों के लिए नियमित रूप से लगे। अभ्यस्त कृपणता, संबंधियों का व्यामोह तथा प्रचलनों का दबाव, तथाकथित मित्रों का उपहास असहयोग बोधक हो सकता है। इनके चक्रव्यूह से किस प्रकार निपटा जाएगा–इसका साहसिक निर्धारण भी मनन प्रक्रिया के साथ-साथ ही करना होता है।

प्रभावशाली साधना की पृष्ठभूमि

साधना क्षेत्र में प्रगति करने की वास्तविक इच्छा करने वालों के लिए शरीर और मन का शोधन आवश्यक है। धुले कपड़े पर ठीक तरह रंग चढ़ता है। तेल से चिकना, कालिख से गंदा बना हुआ वस्त्र कीमती रंगों से भी ठीक तरह रंगा न जा सकेगा। यही नियम अध्यात्म मार्ग में चरितार्थ होता है। अन्नमयकोश, मनोमयकोश, प्राणमयकोश, विज्ञानमयकोश, आनंदमयकोश के अनावरण की पंचकोशी उच्चस्तरीय गायत्री उपासना का प्रशिक्षण अनेक वर्षों से किया जा रहा है। इस आधार पर अनेकों साधकों ने आशाजनक प्रगति की है। उन्हें घर में रहते हुए एक-दो घंटे नित्य लगाकर की जा सकने वाली इस साधना से ऐसे उत्साहवर्धक अनुभव हुए हैं जैसे गिरि गुफाओं में दीर्घकाल से रहने वाले योगीजनों को भी नहीं हो पाते। किंतु इसी के साथ ही ऐसे भी अनेक साधक हैं जिन्हें मन को एकाग्र करने की समस्या का हल भी अभी तक नहीं मिला है। लकीर पीटने की तरह वे कुछ करते तो रहते हैं पर न तो उन्हें प्रकाश मिलता है और न आनंद ही आता है।

एक ही विधि-विधान को अपनाने वाले साधकों की प्रगति में इस प्रकार का आकाश-पाताल का अंतर होने का कारण उनकी शारीरिक और मानसिक स्थिति ही होती है। एक ही रोग के कई रोगियों को एक ही दवा दी जाए तो सब पर समान असर नहीं होता। रोगियों की शारीरिक स्थिति, पथ्य-कुपथ्य, रहन-सहन, संकल्प-

विकल्प के आधार पर रोग के अच्छे होने न होने में बहुत अंतर बना रहता है। यही बात साधना क्षेत्र में भी लागू होती है। उपासना विधि एक-सी रहने पर भी प्रगति में बहुत भारी अंतर पाया जाता है।

अस्वस्थता आध्यात्मिक प्रगति में एक भारी बाधा है। रोगी शरीर में रहने वाला मन भी रोगी हो जाता है। रोग के कारण शरीर में होते रहने वाले कष्टों की तरह विक्षुब्ध मन में भी अनेक प्रकार के उद्वेग उठते रहते हैं। उछलते हुए पानी में सूर्य का प्रतिबिंब दीख नहीं पाता, उसी प्रकार अशांत मन में एकाग्रता और स्थिरता नहीं रह पाती। ऐसी दशा में साधनात्मक आनंद एवं प्रगति से वंचित रहना पड़े तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं।

शरीर के समस्त रोगों की जड़ अपच है। पाचन तंत्र में गड़बड़ी आने से पेट में सड़न उत्पन्न होती है, वायु का प्रकोप बढ़ता है और रक्त में अशुद्धता भर जाती है। यह अशुद्धता जिस अंग में जड़ जमा लेती है वहीं रोग के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। बीमारी किसी भी अंग में क्यों न हो, उसका नाम रूप कुछ भी क्यों न हो, वस्तुतः वह अपच की ही प्रतिक्रिया होती है। बिगड़े हुए पाचन तंत्र का सुधार करने में संसार की समस्त चिकित्सा-प्रणालियों की अपेक्षा प्राकृतिक चिकित्सा ही आज अधिक सफल हो रही है। चान्द्रायणव्रत प्राकृतिक चिकित्सा सिद्धांत का अत्यंत उत्कृष्ट स्वरूप है। उसमें मनोविज्ञान और अध्यात्म का भी समावेश होने से न केवल शरीर का वरन मन एवं अंतःकरण का भी परिशोधन होता है।

चांद्रायण व्रत की पद्धति को हम और भी अधिक वैज्ञानिक बना रहे हैं। उपवास के साथ-साथ ऐनीमा, मिट्टी की पट्टी, वाष्प-स्नान, कटि-स्नान, सूर्य किरण-चिकित्सा, मृतिका-लेपन आदि पंचकर्मों द्वारा पेट ही नहीं वरन शरीर के अन्य अंगों का भी शोधन होता है और देखा यह गया है कि एक वर्ष तक किसी सुयोग्य चिकित्सक की औषधि चिकित्सा की अपेक्षा एक महीने के चान्द्रायण व्रत से कहीं अधिक लाभ होता है।

इंद्रियों पर संयम चान्द्रायण-व्रत में अनिवार्य है। अस्वादन, ब्रह्मचर्य आदि नियमों का पालन करने से मन की चंचलता दूर होती है। आत्म-निरीक्षण करते हुए अपने गुण-कर्म-स्वभाव में घुसी हुई त्रुटियों को देखना-समझना, भूलों पर पछताना, उनके लिए आत्म-प्रतारणा एवं प्रायश्चित करना मन की शुद्धि का सर्वोत्तम उपाय है। चांद्रायण-व्रत में पूरे एक महीने यही मानसिक क्रिया करनी पड़ती है। जो पाप बने हैं उनसे हुई सामाजिक क्षतिपूर्ति के लिए कोई पुण्य प्रयत्न सोचना पड़ता है, जिससे उत्पन्न हुए उत्साह एवं संतोष से पाप का दु:ख एवं असंतोष दूर हो सके। इस प्रक्रिया को अपनाने से मनोभूमि की शुद्धि अवश्यम्भावी है। चान्द्रायण व्रत करने वाले का मन भी शरीर की भाँति ही निरोग बनता है। अशुद्ध मन में अनेकों मानसिक बीमारियाँ एवं विकृतियाँ भरी रहती हैं जिनके कारण लोग प्राय: मूर्खतापूर्ण कार्य करते हैं और आधे पागल जैसे बने रहते हैं। चान्द्रायण व्रत करने के उपरांत प्राप्त होने वाली मानसिक निरोगिता से अनेक व्यक्तियों के स्वभाव एवं दृष्टिकोण बदलते देखे गए हैं। सिरदर्द, जुकाम, अनिद्रा, दु:स्वप्न, चिड़चिड़ापन, आवेश, उत्तेजना, चिंता, भय, निराशा, घबराहट आदि अनेक मानसिक रोगों की सरल एवं प्रभावशाली चिकित्सा चान्द्रायण व्रत के अतिरिक्त दूसरी हो नहीं सकती।

विशेष प्रकार की मानसिक दुर्बलताओं का निवारण करने के लिए मनोविज्ञान चिकित्सा के सिद्धांतों का आश्रय लेकर हम चान्द्रायण व्रत की अवधि में दूसरे प्रकार के उपचारों का भी समावेश करते रहते हैं। इसलिए वह न केवल एक आध्यात्मिक तप मात्र रहता है वरन शरीर-शोधन के साथ-साथ मनोविकारों के समाधान का एक श्रेष्ठ उपचार भी बन जाता है। पिछले दिनों इस प्रकार के सैंकड़ों प्रयोगों में सफलता प्राप्त करने के उपरांत हमारा सुनिश्चित विश्वास यह हो गया है कि आत्मिक प्रगति के लिए, आंतरिक भूमिका की आवश्यक तैयारी के लिए चान्द्रायण

व्रत जितना आवश्यक है उतना ही शारीरिक और मानसिक दोषों को सुधारते हुए लौकिक-जीवन में सुख-शांति का मार्ग प्रशस्त करने की दृष्टि से भी उपयोगी है।

उच्चस्तरीय गायत्री उपासना का आवश्यक लाभ उठाने के लिए अधिक नहीं तो एक चान्द्रायण व्रत करने का अवसर निकालना चाहिए। यों उसे पूरी जानकारी के उपरांत अपने घरों पर भी किया जा सकता है। पर अच्छा यही है कि अपने स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर की समग्र परिशुद्धि की दृष्टि से किसी अनुभवी व्यक्ति के सानिध्य में ही उसे किया जाए। लाभ की बात सोचकर अविधिपूर्वक कदम उठाने लगने की जल्दबाजी कई बार अहितकर भी सिद्ध होती है। चान्द्रायण व्रत के साथ-साथ किया गया गायत्री अनुष्ठान सोने में सुगंध का काम करता है।

उच्चस्तरीय प्रयोजन के लिए उपयुक्त वातावरण

विशिष्ट स्तर के परिवर्तनों के लिए जहाँ उपयुक्त उपचार पद्धति, प्रयोगाधिकारी तथा आवश्यक साधन उपकरणों की आवश्यकता होती है, वहाँ परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना पड़ता है। स्थान और समय की बात ऐसी ही है, जिसे ध्यान में रखते हुए योजना में हेर-फेर करना पड़ता है। टीलों पर बाग लगाना, रेगिस्तान में खेती करना, दल-दल में नगर बसाना इच्छा होते हुए भी नहीं बन पड़ता। इसके लिए समस्त साधन होते हुए भी स्थान बदलना पड़ता है। हर काम हर स्थान पर नहीं हो सकता। बहुत-सी दुर्लभ जड़ी-बूटियाँ ऐसी हैं, जो ठंडे या गरम प्रदेशों में ही उत्पन्न हो सकती हैं। उन्हें विपरीत वातावरण में लगाया जाए तो मेहनत और लागत बेकार चली जाएगी। अभीष्ट परिणाम की स्थिति बनेगी ही नहीं।

कल्प-साधना के लिए सर्वप्रथम उपयुक्त वातावरण देखना पड़ता है। कुछ रोगों का इलाज घर बैठे भी हो सकता है, पर कुछ

ऐसे हैं, जिनके लिए अस्पताल में भरती होने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। बड़े-बड़ों को विवशता में यही करना पड़ता है। क्योंकि डॉक्टर, नर्स, परीक्षा, चिकित्सा तथा शल्य-क्रिया के साधन उपकरण किसी के निजी मकान में एकत्रित नहीं किए जा सकते। हर समय, हर सुविधा उपलब्ध कराने वाले, उपयुक्त जलवायु में बने अस्पताल ही गंभीर चिकित्सा के लिए उपयुक्त पड़ते हैं। इस तथ्य को समझने वाले बिना नानुकर किए अस्पताल में भरती होते हैं। घर में ही वह सब करा लेने का हठ कोई दुराग्रही ही करता होगा। कल्प साधना में जहाँ उपचार पद्धति का सही रूप में परिपालन आवश्यक होता है वहाँ एक आवश्यकता उपयुक्त वातावरण की भी रहती है। इसकी व्यवस्था बने बिना गाड़ी रुकी ही रहती है।

लंका विजय के उपरांत राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न को आत्म-कल्याण की साधना आवश्यक प्रतीत हुई। गुरु वशिष्ठ ने भी इस आकांक्षा का समर्थन किया। बात आगे बढ़ी तो प्रथम प्रश्न यही उत्पन्न हुआ कि उसे किया कहाँ जाए? यों अयोध्या में साधनों की कमी नहीं थी, उनके लिए सभी सुविधाएँ जुट सकती थीं, पर मूल प्रश्न एक ही था कि अभीष्ट वातावरण वहाँ कहाँ से आए? जन्मभूमि और कर्मभूमि के साथ मनुष्य के अनेकानेक संस्कार जुड़े होते हैं। अपना-पराया, राग-द्वेष, स्मृति-अभ्यास, संपर्क-स्वभाव के कुछ ऐसे प्रवाह मनुष्य के साथ जुड़े होते हैं कि बहुत रोकथाम करने पर भी मनुष्य की चिंतन पद्धति, अभिरुचि और आदत उसी अभ्यस्त ढर्रे में अनायास ही घूमती रहती है। विचारों तक की रोकथाम और तोड़-मरोड़ जब कठिन पड़ती है, तब अचेतन के साथ जुड़े रहने वाले स्वभाव-अभ्यास को कैसे बदला जाए? इसके लिए स्थान बदलने की आवश्यकता पड़ती है। परिस्थितियों का भी मनःस्थिति पर प्रभाव पड़ता है। स्थान बदलने में वहाँ के पदार्थ और व्यक्तियों के साथ संबंध भी झीने पड़ते हैं। फलतः आगे

न बढ़ने देने वाले संचित संस्कारों की पकड़ ढीली हो जाती है। साथ ही अधिक प्रभावी वातावरण का दबाब पड़ने पर भी मन का बदलना सरल हो जाता है।

भगवान कृष्ण और रुक्मिणी का विचार एक बार उच्चस्तरीय संतान उत्पन्न करने का हुआ। इसके लिए उन्हें विशिष्ट तप करना था। हलकी-फुलकी साधना तो घर-गाँव में रहते हुए सामान्य क्रिया-कलापों के साथ-साथ भी चलती रहती है किंतु उच्चस्तरीय साधनाओं में प्रयास ही सब कुछ नहीं होता। इसके लिए वातावरण भी चाहिए। अस्तु, दोनों को सुसंपन्न नगरियों में उपलब्ध अपने प्रस्तुत साधन छोड़ने पड़े और अभीष्ट प्राप्ति के लिए उपयुक्त स्थान 'बद्रीनाथ' ढूँढ़ना पड़ा। वहाँ उन लोगों ने बारह वर्ष तक मात्र जंगली बेर खाकर तप किया। तदुपरांत ही अपने समान स्तर का एकमात्र पुत्र 'प्रद्युम्न' उत्पन्न कर सकने में सफल हुए।

महाभारत के उपरांत पांडव सिंहासनारूढ़ तो हुए पर साथ ही उनकी आत्मोकर्ष आकांक्षा भी रही। भगवान कृष्ण ने उनकी अभिलाषा को समझा और इसके लिए स्थान बदल देने का परामर्श दिया, वैसा ही हुआ था। राज-काज उत्तराधिकारियों को देकर पांडव हिमालय चले, कृष्ण भी साथ थे धृतराष्ट्र, गांधारी और कुंती इससे पूर्व ही हिमालय निवास करते हुए आत्म साधना में संलग्न हो चुके थे। पीछे द्रोपदी समेत पाँच पांडव भी चले। बद्रीनाथ के निकट ही वे जिस स्थान पर बसे उसका नाम 'पांडुकेश्वर' पड़ा। भगवान ने उन्हें 'पांडव गीता' यहीं सुनाई थी। वह ज्ञान भी 'योगवसिष्ठ' के समतुल्य ही माना जाता है। तपस्वी जीवन बिताते हुए उच्चस्तरीय साधना करते हुए पांडवों ने स्वर्ग प्रस्थान किया था, यह सभी को विदित है। यह उद्देश्य वे लोग 'इन्द्रप्रस्थ' 'हस्तिनापुर' रहते हुए राज-काज चलाते हुए पूरा नहीं कर सकते थे। वातावरण व्यक्ति का तीन चौथाई मन अपने साथ अनायास ही जकड़े रहता है। अभ्यस्त ढर्रे में स्थान

के साथ, स्वजन संबंधियों के साथ जुड़े हुए संबंध इतने सघन होते हैं, जिनका उल्लंघन करते हुए पार जा सकना दुस्तर समझकर यही उपाय अपनाया जाता है कि उपयुक्त वातावरण की दृष्टि से, पुराने संबंधों से जकड़ा हुआ स्थान बदला दिया जाए। पांडवों ने भी राम-बांधवों की तरह, वही किया।

स्वास्थ्य सुधार के लिए बनाए जाने वाले 'सेनेटोरियमों' की स्थापना करने वाले सर्वप्रथम उपयुक्त जलवायु वाले स्थानों का चुनाव करते हैं। भले ही लोगों को वहाँ पहुँचने में असुविधा होती हो। 'भुवाली' आदि सभी सेनेटोरियम प्रायः ऊँचे पर्वतीय स्थानों पर स्वास्थ्य सुधार की दृष्टि से उपयुक्त समझे गए वातावरण में बने हैं। परिणाम को देखते हुए स्पष्ट है, रोग और उपचार अन्यत्र जैसा रहने पर भी वहाँ भरती हुए रोगी आशातीत प्रगति करते हैं और जल्दी अच्छे होने में इन उपचार गृहों का परिणाम आश्चर्यजनक रहता है। यह सफलता रोगी अपने-अपने स्थानों पर रहकर नहीं प्राप्त कर सकते।

ऐसे रोगियों में हर घड़ी स्वास्थ्य सुधार ही मस्तिष्क पर छाया रहता है, जबकि घर रहने पर कुटुंब-व्यवसाय संपर्क-समुदाय से संबंधित अनेकानेक समस्याएँ ध्यान बँटाती रहती हैं। पूरा मनोयोग लगना भी सफलता का बहुत बड़ा रहस्य है। कल्प साधना में भी घर छोड़कर तदनुरूप स्थान चयन करने की बात पर जोर दिया जाता है।

बंबई का केला, नागपुर का संतरा, लखनऊ का आम, मैसूर का चंदन प्रसिद्ध है। उन्हीं पौधों को अन्यत्र लगाया जाए, तो वे स्थान और गुण उपलब्ध न होंगे। इसमें माली का दोष नहीं, जलवायु का कारण है। सरहदी पठान और नम क्षेत्र के निवासी बंगाली का शरीर देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि आहार आदि की सुविधा में अंतर न रहने पर भी स्वास्थ्य में इतना अंतर क्यों रहता है? इसमें क्षेत्रीय जलवायु की भिन्नता ही प्रमुख कारण है। जो बात

भौतिक क्षेत्र में जलवायु और जमीन पर लागू होती है वही अध्यात्म क्षेत्र के प्रयोगों और परिणामों के संबंध में उच्चस्तरीय वातावरण पर निर्भर रहती है। इसमें भूमिगत संस्कार, प्राणवान सान्निध्य तथा क्षेत्रीय वातावरण, पुरातन संस्कार आदि कितने ही कारण काम करते हैं। तीर्थों की स्थापना पुरातन काल में इन्हीं तथ्यों को समन्वित करते हुए की गई थी।

बालकों का गुरुकुल-वानप्रस्थों के आरण्यक-स्थापित करते समय सुविधा का नहीं, उच्चस्तरीय वातावरण का ध्यान रखना होता है, भले ही वह परंपरागत बना हो अथवा प्रयत्नपूर्वक बनाया गया हो। सुविधा का स्थान कौन नहीं चाहता। पर जब वातावरण के साथ जुड़ी हुई प्रगति का प्रश्न आता है तो सुविधा छोड़ने और वातावरण अपनाने का दूरदर्शिता पूर्ण निर्णय करना पड़ता है। होटल, धर्मशाला में रहकर अनुष्ठान आदि की लकीर पीट लेना एक है और त्रिवेणी की रेती में कुटी बनाकर माघ मास का 'कल्पवास' करना दूसरी। साधना में मात्र कृत्य ही सब कुछ नहीं होता। उसके लिए वातावरण भी पौधे को खाद-पानी मिलने की तरह आवश्यक है। इस दृष्टि से स्थान परिवर्तन की आवश्यकता कल्प-साधना में आवश्यक मानी गई है। मालवीय जी का काया-कल्प प्रयोग हिंदू विश्वविद्यालय में बनी उनकी कोठी पर नहीं हुआ था। इसके लिए उन्हें मथुरा जिले के छोटे गाँव में तपसी बाबा के तपोवन में फूँस की कुटी बनाकर रहना पड़ा था।

महामानवों में से तो प्रत्येक को स्थाई रूप से अपनी जन्मभूमि छोड़कर अन्यत्र कार्यक्षेत्र बनाना पड़ता है। ऋषि वृंद में से प्रत्येक को अपनी जन्मभूमि छोड़नी पड़ी और वे प्रधानतया हिमालय की छाया और गंगा की गोद में बसे। कुछ को अन्यत्र भी ऐसे ही पवित्र स्थान ढूँढ़ने पड़े। बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, नानक, कबीर ,रामानुज, चैतन्य, ज्ञानेश्वर, समर्थ, रामकृष्ण परमहंस,गांधी, अरविंद, रमण

आदि में से एक भी अपने जन्मस्थान में नहीं बसा भले ही उन्हें वहाँ साधन सुविधा की दृष्टि से सुगमता रही हो। ईसा, मुहम्मद और जरथुस्त आदि प्रमुख धर्म संस्थापकों के संबंध में भी यही बात है। उन्हें जन्मभूमि से प्रेम न रहा हो, ऐसी बात नहीं, पर परिस्थिति का मनःस्थिति पर जो प्रभाव पड़ता है और उसके कारण लक्ष्य की ओर गतिशील होने में जो व्यवधान पड़ता है, उसे देखते हुए दूरदर्शिता ने यही सुझाया कि स्थान बदल कर ही महान कार्य संपन्न कर सकने में सुविधा होती है।

कल्प-साधना की कार्य पद्धति उतनी कठिन या जटिल नहीं है जो घर रहकर न की जा सकती हो। किंतु कठिनाई एक ही है कि अभ्यस्त ढर्रा, आधा ध्यान अपने में ही उलझाए रहता है जबकि कल्प साधना या किसी भी साधना के लिए मन को आगे बढ़ाने वाले प्राणवान वातावरण की आवश्यकता पड़ती है। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए बहुत समय से यह प्रयत्न चलता रहा है कि उच्चस्तरीय साधना के निमित्त उपयुक्त वातावरण वाला तीर्थ विनिर्मित किया जाए। 'विनिर्मित' शब्द का प्रयोग यहाँ इसलिए किया जा रहा है कि परंपरागत तीर्थों को निहित स्वार्थों की दुरभिसंधियों ने इस बुरी तरह जकड़ लिया है कि वहाँ श्रद्धा संवर्द्धक प्रेरणा मिलना तो दूर, उलटे अश्रद्धा उत्पन्न करने वाला विक्षोभ ही हाथ लगता है। भीड़-भाड़ की घिचपिच और पर्यटकों जैसी बाल चंचलता को देखते हुए वैसा अवसर ढूँढ़ निकालना कठिन है जहाँ साधना के लिए उपयुक्त सभी आवश्यक माध्यम एक साथ उपलब्ध हो सकें। ऐसी दशा में उस लुप्त परंपरा को पुनजीर्वित करने के लिए नए सिरे से न्यूनतम एक तीर्थ की स्थापना तो अनिवार्य रूप में आवश्यक हो ही गई। इसके बिना प्रगति रथ एक कदम भी आगे बढ़ता प्रतीत नहीं हो रहा था।

शांतिकुंज गायत्री तीर्थ को इसी दृष्टिसे विनिर्मित किया गया है ताकि शून्य की पूर्ति हो सके। कल्प साधना सच्चे अर्थों में

तीर्थ सेवन है। वातावरण, साधना, शिक्षण-विधान, अनुशासन, अध्यवसाय की दृष्टि से यहाँ निवास करने वाले साधक को यही अनुभव होता है कि उसे तीर्थ परंपरा का जीवन दर्शन हो रहा है। सूत्र-संचालकों ने समय की आवश्यकता को पूरा करने के लिए इस संदर्भ में प्राणपण से प्रयास किया है। अनेक स्थूल कमियों के रहते हुए भी कोई सूक्ष्मदर्शी यहां यह अनुभव कर सकता है कि व्यवस्था को उन्हीं पद चिन्हों पर चलाया जा रहा है जिन पर देव संस्कृति के महान तीर्थों की स्थापना प्रचंड ऊर्जा केंद्रों के रूप में की गई थी। ऐसी प्रचंड जिसमें तपकर अनगढ़ धातुओं को गलने-ढलने और बहुमूल्य बनने का अवसर मिलता था। तीर्थ प्रकारांतर से महामानव ढालने के उत्पादन केंद्र थे जिनमें गुरुकुल बालकों का, आरण्यक वानप्रस्थों का, साधनारत व्यस्त गृहस्थों का नव निर्माण करते थे।

वातावरण की चरचा करने के उपरांत एक प्रश्न फिर भी शेष रह जाता है कि सत्रों में सम्मिलित होने वाला साधक उपयुक्त प्रभाव ग्रहण करने योग्य अपनी मनःस्थिति बना पाते हैं या नहीं। परिस्थितियाँ कितनी ही अनुकूल क्यों न बन गई हों, पर यदि उन्हें स्वीकारने की मनःस्थिति न हो तो वह प्रयोजन सिद्ध हो नहीं सकेगा, जिसके लिए उभयपक्षीय प्रयासों की अनिवार्य आवश्यकता है, जो एकांगी होने पर बनता ही नहीं, सधता ही नहीं। एक हाथ से ताली कहाँ बजती है। एक पैर से तो बिना लकड़ी के सहारे दस कदम भी चलना नहीं हो सकता। एक पहिए की गाड़ी लंबी यात्रा पूरी केसे करे? सूर्य कितना ही महान क्यों न हो उसकी किरणें किसी बंद दरवाजे में प्रवेश नहीं कर सकतीं। हवा कितनी ही स्वच्छ क्यों न हो यदि खिड़कियाँ बंद रहें तो वह समर्थ होते हुए भी उस घर में घुस नहीं सकेगी। दृश्य कितने ही सुंदर क्यों न हों पुतली के खराब हो जाने पर सर्वत्र अंधकार ही दृष्टिगोचर होगा। कान के परदे काम न करें तो मधुर संगीता का आनंद ले सकना संभव नहीं।

पाचनतंत्र खराव हो तो पौष्टिक भोजन की कोई उपयोगिता नहीं। वाहन-साधनों की जितनी उपयोगिता आवश्यकता है, उससे भी अधिक उनका सही उपयोग कर सकने में समर्थ विवेक और कौशल की है, अन्यथा बहुमूल्य उपलब्धियाँ भी निरर्थक बनकर रह जाएँगी। वर्षा में सभी जंगल हरे-भरे दीखते हैं, पर चट्टानों पर न तो नमी के चिन्ह दीखते हैं और न एक तिनका जमता है। आग को ईंधन तो चाहिए ही। अन्यथा वह प्रचंड होते हुए भी बुझ जाएगी। तीर्थ सेवन के संबंध में भी यही बात है। उसमें उपयुक्त परिस्थितियाँ तो होनी ही चाहिए। उनके बिना उत्तम मन:स्थिति होने पर भी बात नहीं बनती, पर साथ ही इस तथ्य को भी भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि सशक्त परिस्थितियाँ भी उपयुक्त मन:स्थिति के अभाव में अपना प्रभाव प्रस्तुत कर सकने में समर्थ नहीं हो सकतीं।

कल्प साधना के साधकों को चाहिए कि इतना समय निकालने, इतना कष्ट सहने, इतना खरच करने का जहाँ साहस दिखाया है वहाँ इतना पुरुषार्थ और भी करें कि अपने मन को पकड़-जकड़ कर, समेट-दबोच कर इसके लिए मनाएँ कि इन दिनों किसी दिव्य लोक में निवास करने, दिव्य ढाँचे में ढलने, भविष्य को देवोमय बनाने के लिए जिस चिंतन की आवश्यकता है उसे तत्परतापूर्वक अपनाएँ। मन उचटता हो तो उसके लिए छुट्टल घूमने के अभ्यस्त किसी वन्य पशु को प्रशिक्षित करने का कौशल अपनाया जाए। विचारों को भी विचारों से काटा जाए। लोहे से लोहा कटता है, विष को विष मारता है, काँटे से काँटा निकलता है। अनगढ़ एवं आवश्यक विचारों के अभ्यस्त मन:संस्थान को यदि उच्चस्तरीय अनुशासन में ढालना है तो वैसा ही प्रयत्न करना होगा जैसा कि बछड़े को हल में जोतने के लिए करना होता है।

परिस्थितियाँ जितनी महत्त्वपूर्ण हैं उतनी साधक की मन:स्थिति भी। यदि मन पर कैद होने का, जितनी जल्दी हो सके मुक्त होकर

भागने के विचारों का घटा टोप छाया हो तो कितना भी सशक्त वातावरण हो, भावना, विचारणा तथा शरीर संरचना में तनिक भी परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होगा। अनुकूल मन:स्थिति के साधकों को कल्प प्रक्रिया के लिए जैसी परिस्थितियों की तीर्थ के शक्ति प्रधान वातावरण की आवश्यकता थी वैसा ही शांतिकुंज को गायत्री तीर्थ के रूप में विकसित किया गया है। इसके लिए इस स्थान की महत्ता तो अपने स्थान पर है ही, हमारे प्रयास भी महत्त्वपूर्ण हैं जिनके माध्यम से इस तप:स्थली को संस्कारित किया गया है। सर्वविदित है कि यह स्थान सप्त ऋषियों की तप:स्थली सप्त सरोवर पर बनाया गया है। इमारत ठीक वहीं बनी है, जहाँ गायत्री के दृष्टा विश्वामित्र का निवास था। नौ कुंड की यज्ञशाला में नित्य दो घंटे यज्ञ, पचपन साल से निरंतर जल रही अखंड ज्योति, नित्य का चौबीस लाख सामूहिक जप पुरश्चरण, जड़ी-बूटी उद्यान जैसी विशेषताएँ चर्म चक्षुओं से देखी जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त वैसा भी बहुत कुछ है जिसे मात्र ज्ञान चक्षुओं से ही देखा जा सकता है। हिमालय की दिव्य सत्ता का संरक्षण, वशिष्ठ अरुंधती का सान्निध्य, अनुभव, पूर्ण मार्ग दर्शन तथा प्राणवान अनुदान जैसी ऐसी सुविधाएँ जो अन्यत्र मिल सकना कठिन है। ब्रह्मवर्चस की शोध, युग शिल्पियों का प्रशिक्षण इस वातावरण को स्वर्ण सुयोग जैसा बना देते हैं। 'कल्प साधना' जैसे महान प्रयोजन के लिए इससे हलके दरजे का वातावरण काम भी नहीं दे सकता।

सर्वतोमुखी प्रखरता उत्पन्न करने वाली तप-साधना

धर्मशास्त्र में पाप निवृत्ति और पुण्य प्रवृत्ति के दोनों उद्देश्यों को पूरा करने के लिए उपयुक्त साधन चांद्रायण तप बताया गया है। इस पुण्य प्रक्रिया के पाँच प्रमुख भाग यह हैं—(१) एक महीने तक आहार के घटने-बढ़ने वाला उपवास (२) गुप्त पापों का प्रकटीकरण (३) आंतरिक परिवर्तन कर सकने वाले

वातावरण में निवास और अनुशासन का प्रतिपालन (४) अंतःकरण को परिष्कृत करने वाला योगाभ्यास युक्त तप साधन (५) दुष्कर्मों की क्षतिपूर्ति और पुण्य वर्धन की परमार्थ परायणता। इन्हें पूरा करने से चांद्रायण तप संपन्न होता है। मात्र एक महीने का उपवास ही चांद्रायण नहीं है।

एक महीने की निर्धारित ब्रह्म वर्चस साधना क्रम में इन पाँचों का समन्वय है।

(१) पूर्णिमा से पूर्णिमा तक एक महीने का उपवास रहता है। पूर्णिमा को पूर्ण आहार करके उसका चौदहवाँ अंश कृष्ण पक्ष में हर दिन घटाया जाता है। शुक्ल पक्ष में उसी क्रम से बढ़ाते रहते हैं। अनभ्यस्त लोगों को 'शिशु' चान्द्रायण कराया जाता है और मनस्वी लोगों को यति चांद्रायण। यह स्वास्थ्य संवर्द्धन के लिए शारीरिक काया-कल्प जैसा प्रयोग है। इससे रोगों की जड़ें कटती हैं। परम सात्विक हविष्यान्न ही पेट में जाने से विचार परिष्कार और सद्भाव संवर्द्धन का उद्देश्य बड़ी अच्छी तरह पूरा होता है। पंचगव्य सेवन, गौ मूत्र से संस्कारित हविष्यान्न का आहार आदि के माध्यम से गौ संपर्क भी सधता रहता है। प्यास बुझाने के लिए मात्र गंगा जल पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

(२) गुप्त पापों का प्रकटीकरण मात्र ब्रह्म वर्चस के कुलपति के सम्मुख करके चित्त की भीतरी परतों पर जमी हुई दुराव की जटिल ग्रंथियों को खोला जाता है। मानसिक रोगों के निराकरण का यह बहुत ही उत्तम उपचार है। जो किया जा चुका उसके परिमार्जन के लिए क्या करना चाहिए यह परामर्श प्राप्त करना भी इसी प्रकटीकरण का अंग है।

शीर्ष संस्कार इसी प्रयोजन के लिए हैं। पूर्ण मुंडन तो नहीं कराया जाता, पर बाल थोड़े छोटे अवश्य हो जाते हैं। जिसका तात्पर्य है संचित दुष्ट विचारों का परित्याग। बच्चों का मुंडन संस्कार भी जन्म-जन्मांतरों की पशु प्रवृत्तियों को मस्तिष्क में से हटाने के

उद्देश्य से ही किया जाता है। बाल छाँटने के अतिरिक्त गोमूत्र-गोमय आदि मंत्र विधान सहित शीर्ष संस्कार किया जाता है। साधक अनुभव करता है कि इस धर्म कृत्य के साथ-साथ उसके मन:संस्थान में अति महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहा है।

(३) वातावरण का मनुष्य पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। व्यक्तित्व के परिवर्तन प्रयास में वातावरण का परिवर्तन आवश्यक माना गया है। ब्रह्मवर्चस आरण्यक में वैसी समुचित सुविधा उपलब्ध है। परिमार्जन, संरक्षण और अभिवर्धन के तीनों उद्देश्य पूरे करने वाली त्रिवेणी यहाँ विद्यमान है। दिनचर्या में स्वाध्याय, सत्संग, मनन, चिंतन के चारों तत्त्व गुँथे हुए हैं। शारीरिक और मानसिक संयम अनुशासन की कठोर विधि व्यवस्था का पालन करना पड़ता है। प्रवचन और परामर्श का दैनिक लाभ मिलता है। दिनचर्या, इतनी अनुशासित और व्यवस्थित रहती है कि उस ढर्रे में ढल जाने वाला भविष्य में अपने आपको सर्वतोमुखी प्रगति में सहायक ढाँचे में ही ढाल लेता है। वातावरण का प्रभाव अभिनव परिवर्तन के रूप में निरंतर अनुभव होता रहता है।

(४) अंत:करण में दैवी संस्कारों की जड़ जमाने वाले योगाभ्यास और तप साधन चान्द्रायण के साथ-साथ ही करने होते हैं। सवा लक्ष गायत्री पुरश्चरण अनिवार्य रूप से आवश्यक है। गायत्री यज्ञ में नित्य सम्मिलित होना होता है। इसके अतिरिक्त उच्चस्तरीय पंचकोशी साधना के लिए पाँच योगाभ्यास निश्चित हैं। जप और ध्यान के अतिरिक्त (१) त्राटक (२) सूर्यवेधन प्राणायाम (३) खेचरी मुद्रा (४) सोहम् साधना एवं (५) शक्तिचालिनी प्रक्रिया के रूप में नित्य ही करनी पड़ती है। इन साधनाओं से चेतना क्षेत्र के पाँच प्राणों का और काया क्षेत्र के पाँच तत्त्वों का परिष्कार होने के साथ-साथ जीवन में अभिनव प्राण संचार होता है। शास्त्रों ने इसे पंचीकरा योगाभ्यास एवं पंचाग्नि तपश्चर्या कहा है। सर्वसाधारण के सध सकने जितना ही

दबाव इस एक महीने के साधन क्रम में सम्मिलित किया गया है। गायत्री की पंचमुखी साधना में पंचकोशों के अनावरण की ग्रंथि वेधन का रहस्यमय विधान इन्हीं पाँच साधनाओं के अंतर्गत आ जाता है। अंत:चेतना के यह पाँच उभार पाँच देवताओं के वरदान जैसे चमत्कारी प्रतीत होते हैं।

(५) पापों की क्षतिपूर्ति एवं पुण्य संपदा की अभिवृद्धि के लिए चांद्रायण व्रत की पूर्णाहुति के रूप में कुछ अवांछनीयता का परित्याग और कुछ परमार्थों को अपनाने का संकल्प करना होता है। संग्रह का अंशदान, तीर्थयात्रा के रूप में धर्म प्रचार का श्रमदान, पुण्य प्रयोजनों में सहकार, सत्सृजन में योगदान जैसे कुछ कदम उठाने के लिए परामर्श दिया जाता है जिनके सहारे अंत:करण पर परिवर्तन को व्यवहार में उतारने की छाप प्रत्यक्ष परिलक्षित होने लगे। आंतरिक काया-कल्प चांद्रायण तपश्चर्या का उद्देश्य है। यह कल्पना क्षेत्र तक ही सीमित बनकर न रह जाए वरन व्यवहार में भी परिलक्षित होने लगे। इसके लिए कुछ क्रियात्मक कदम उठाने के लिए वैसा परामर्श मिलता है जो प्रस्तुत परिस्थितियों में सरलतापूर्वक शक्य हो सके। उपलब्ध सुसंस्कार परिपक्वता के लिए-दूसरों के सम्मुख परिवर्तन का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए कुछ साहसिक कदम उठाने पड़ते हैं। यही चान्द्रायण की पूर्णाहुति है।

बीज को वृक्ष रूप में परिणत करना एक चमत्कार है। व्यक्तित्व को तुच्छ से महान बनाना भी एक दैवी वरदान है। बीज अनायास ही वृक्ष नहीं बन जाता। उसे उगने से लेकर फूलने-फलने की परिपक्व स्थिति तक पहुँचने में समय और साधनों की आवश्यकता पड़ती है—(१) भूमि (२) खाद (३) पानी (४) सुरक्षा एवं (५) उत्पादक की श्रमशीलता का समन्वय आवश्यक होता है। ठीक इसी प्रकार ईश्वराधन को सफल बनाने के लिए भी पाँच परिपोषणों की आवश्यकता पड़ती है। इन्हीं पाँचों का समन्वय

ब्रह्मवर्चस साधना में है। इस सुनियोजित तप साधना की सामूहिक व्यवस्था से उस युग शक्ति का उद्भव होगा जिसकी सामर्थ्य से नए युग के सृजन की अनेकों आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकेंगी। व्यक्ति में देवत्व का उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण के लिए जिन सृजन शक्तियों को युगांतरकारी भूमिका निभानी है, उनकी धार तेज करने के लिए यह एक महीने की चांद्रायण तपश्चर्या अति महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी, यह सुनिश्चित है।

पूर्व जन्म जनितं पुराविदः कर्म दैवमिति संप्रचक्षते।
सुखस्य दुखस्य न कोपिदाता, परोददातीति कुबुद्धिरएषा।
स्वयं कृतं स्वेन फलेन पुज्यते शरीर हे ! निस्तदयतत्वयाकृतम्।
—गरुण पुराण

कर्मणैव हि रुदत्वं विष्णुत्वं च लभेन्नरंः। —देवी भागवत
नमस्तत कर्मेभ्यो विधिरपि नएभ्यप्रभवति। —भर्तृहरि

ब्रह्मा भी जिस कर्म के अधीन है, उस कर्म को ही नमस्कार है, पहले जन्मों में किया हुआ अपना ही कर्म इस जन्म में प्रबल दैव, बन जाता है और कहलाता है। सुख-दुःख देने वाला कोई दूसरा नहीं अपना किया कर्म ही अपने नैसर्गिक फल को पाता है। अपने कर्म से ही जीव को रुद्रत्व, विष्णुत्व आदि मिलता है। पूर्व जन्म का कर्म ही इस जन्म का दैव है।

चांद्रायण साधना एक काया कल्प उपचार

संचित पाप कर्मों का प्रतिफल रोग, शोक, विक्षोभ, हानि, विपत्ति आदि के रूप में उपस्थित होता है। यह विपत्तियाँ भुगतनी पड़ें इसका आधार मनुष्य का भ्रष्ट चिंतन एवं दुष्ट आचरण ही होता है। पाप कर्म के बीज सर्वप्रथम दुष्प्रवृत्ति बनकर अंकुर की तरह उगते हैं। इसके बाद वे पेड़-पौधे बनकर फूलने-फलने लगते हैं। जब तक वे फलने योग्य नहीं होते तब तक उनका स्वरूप पतन-पराभव के रूप में दृष्टिगोचर होने वाले दुराचरण जैसा होता है। पीछे जब वे यदि पुष्ट-परिपक्व हो जाते हैं तो आधि-व्याधि,

विपत्ति, हानि, भर्त्सना के रूप में कष्ट देने लगते हैं। दुष्कर्मों के अकाट्य प्रतिफल से बचने का दैवी विपत्ति एवं समाज प्रताड़ना के अतिरिक्त दूसरा मार्ग प्रायश्चित का है। इस तप साधना का आश्रय लेकर मनुष्य आत्म-शोधन और आत्म-परिष्कार का दुहरा प्रयोजन एक साथ पूरा कर सकता है।

प्रगति पथ पर चलने के लिए आंतरिक अवरोधों से पीछा छुड़ाने और आत्मबल पर आश्रित अनुकूलताओं को अर्जित करने की आवश्यकता पड़ती है। यही है आत्मिक पुरुषार्थ का एकमात्र स्वरूप। यात्री को एक पैर उठाना दूसरा बढ़ाना पड़ता है। उठाने का तात्पर्य है कुसंस्कारों को छोड़ना। इसके लिए तप करना। बढ़ाने का अर्थ है—सत्प्रवृत्तियों को स्वभाव एवं आचरण में सम्मिलित करना। कच्ची धातुओं को बहुमूल्य उपकरण के रूप में परिवर्तित करने के लिए प्रचंड ताप की भट्टी द्वारा गलाई-ढलाई करनी पड़ती है। गलाई को तप और ढलाई को योग कहते हैं। चांद्रायण में तप और योग दोनों का समावेश है। उसकी समूची प्रक्रिया में पग-पग पर परिशोधन और परिष्कार के उभयपक्षीय तत्त्व पूरी तरह गुँथे हुए हैं।

उपवास और सुसंस्कारी अन्न से काय शोधन होता है और मनः क्षेत्र में प्रज्ञा का आलोक बढ़ता है। शरीर कल्प के यही दो आधार हैं। आत्मिक काया-कल्प के लिए भी शरीर का तप-तितिक्षा के आधार पर परिशोधन होता है। उपवास पर आधारित आहार चिकित्सा को कायिक निरोगता का मूलभूत आधार माना जा सकता है। पेट का भार हलका रहने और सुसंस्कारी आहार से गुण, कर्म, स्वभाव पर उपयोगी प्रभाव पड़ने का प्रत्यक्ष लाभ स्वास्थ्य सुधार के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार इंद्रिय संयम, अर्थ संयम, समय संयम और विचार संयम का अभ्यास करने से अवांछनीय दुष्प्रवृत्तियों से सहज ही छुटकारा मिलता है। अंधकार हटना और प्रकाश बढ़ना एक ही बात है। कुसंस्कार घटेंगे तो

आंतरिक प्रखरता अनायास ही बढ़ती चली जाएगी। इसके अतिरिक्त उन दिनों आंतरिक परिवर्तन के लिए भावनात्मक प्रयत्न होते रहें और साथ-साथ योगाभ्यास सम्मत कोई अतिरिक्त प्रयत्न भी चलते रहें। यह अभ्युदय उत्कर्ष की सशक्त प्रक्रिया है।

प्रायश्चित में तीन पक्ष हैं-एक व्रत उपवास जैसी तितिक्षा दूसरा-संचित कुसंस्कारों को उखाड़ने और उस स्थान पर उच्चस्तरीय शालीनता को स्थापित करने का अंतर्मुखी पुरुषार्थ। तीसरा-खोदी हुई खाई को पाटने वाली क्षतिपूर्ति के लिए पुण्य परामर्श का उदार साहस। इन तीनों के संयुक्त समावेश में प्रायश्चित की पूर्ण प्रक्रिया सधती है। मात्र आहार में कटौती करने भर से तो चांद्रायण का एक छोटा भाग ही सधता है।

चांद्रायण को एक प्रकार के आयुर्वेदोक्त काया-कल्प के समान समूचे व्यक्तित्व का संशोधन संवर्द्धन करने वाली प्रक्रिया कह सकते हैं। इसे आत्मिक कल्प कह सकते हैं। इतने पर भी कल्प के भौतिक सिद्धांत दोनों में ही एक जैसे हैं—एकांत-सेवन, आहार संयम तथा निर्धारित चिंतन। यही तीन आधार चांद्रायण के भी हैं। रोगी अपने रोग का स्वरूप ही नहीं इतिहास भी चिकित्सक को बताता है। इसी निदान के आधार वह उपचार की व्यवस्था बनाता है। चांद्रायण में मार्गदर्शक को अपने संचित पाप कर्मों का विस्तृत वर्णन-स्वभावतः दोष-दुर्गुणों का परिचय एवं भौतिक-आत्मिक अवरोधों का विवरण प्रस्तुत करना पड़ता है। इन तीनों पक्षों पर गंभीर विचार करने के उपरांत ही हर व्यक्ति के लिए कुछ विशेष परामर्श दिए जाते हैं, उपाय-उपचार बताए जाते हैं। चांद्रायण के सामान्य नियम उपचार तो एक जैसे हैं किंतु साथ ही हर साधक को स्थिति के अनुरूप उसे कुछ अतिरिक्त उपाय साधन भी बताए जाते हैं। इन निर्धारणों को कौतुक-कौतूहल एवं बेगार जैसी चिन्ह पूजा नहीं बनाया जाता। लकीर पीटने की आधी-अधूरी, लँगड़ी-लूली प्रक्रिया अपनाने भर से इतना बड़ा प्रयोजन पूरा नहीं होता।

उसमें गंभीर होना पड़ता है और निर्धारित अनुशासन का कठोरतापूर्वक परिपालन करना पड़ता है।

चांद्रायण तप घर के व्यस्त-अभ्यस्त वातावरण में नहीं हो सकता है। उपवासपूर्वक अनुष्ठान तो आए दिन होते रहते हैं। चांद्रायण उससे आगे की चीज है। उसके लिए तदनुरूप तीर्थ जैसा पवित्र वातावरण-उपयुक्त साधन एवं ऋषि कृत्य मार्गदर्शन चाहिए। यह आवश्यकता शांति-कुंज गायत्री नगर में जैसी अच्छी तरह संपन्न हो सकती है वैसी सुविधा अन्यत्र मिल सकना कठिन है। पूर्ण चांद्रायण एक महीने का-पूर्णिमा से पूर्णिमा तक होता है और लघु (शिशु) चांद्रायण दस दिन का। दोनों में समय का ही अंतर है विधान अनुशासन दोनों में एक जैसे हैं। सबसे महत्त्व की बात यह है कि शरीरगत अनुबंधों की निर्धारित दिनचर्या अपनाए रहने के अतिरिक्त मानसिक स्थिति ऐसी बनानी पड़ती है मानों किसी अन्य लोक में उन दिनों रहा जा रहा है। इन दिनों सांसारिक चिंतन एक प्रकार से विस्मृत ही कर देना चाहिए और मात्र अध्यात्म लोक की आवश्यकताओं तथा अंतःक्षेत्र की समस्याओं को हल करने में ही चित्त को पूरी तरह केंद्रित रखना चाहिए। भौतिक जीवन की समस्याएँ इतनी विकट होती हैं कि उन्हें सुलझाने वाले साधन जुटाने में प्रायः समूची जीवन अवधि खप जाती है। फिर आध्यात्मिक जीवन तो और भी अधिक व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण है। उसकी गुत्थियाँ सुलझाने और प्रगति के संरजाम जुटाने के लिए नए सिरे से नए दृष्टिकोण तथा नया साहस जुटाना होता है। इतने बड़े काम के लिए निर्धारित साधन काया-कल्प ही है। उसमें से भौतिक चिंतन एवं प्रयास के लिए तनिक भी कटौती नहीं करनी चाहिए। समय तथा मनोयोग को निर्धारित प्रयोजन में ही जुटाए रहना चाहिए। उसे अन्य किसी कार्य में रत्ती भर भी अस्त-व्यस्त नहीं करना चाहिए।

चांद्रायण साधना को 'व्रत'-'तप' एवं 'कल्प' के नाम से जाना जाता है। 'व्रत' अर्थात संयम, अनुशासन निर्धारण एवं परिपालन।

'तप' अर्थात कुसंस्कारों से संघर्ष और शालीनता के अवधारण का अभ्यास पुरुषार्थ। 'कल्प' अर्थात पिछली हेय स्थिति को उलटकर उसके स्थान पर उत्कृष्टता का प्रतिष्ठापन। यह तीनों ही प्रयास परस्पर मिलते हैं तो ज्ञान और धर्म की गंगा यमुना मिलने से एक नई धारा भक्ति भावना की दिव्य जीवन की सरस्वती के रूप में उद्भूत होती है। इस समन्वय में त्रिवेणी संगम बनता है। उसका अवगाहन करने वाले इस धरती पर स्वर्ग का आनंद लेते हैं। जीवमुक्त बनते हैं और मनुष्य रूप में देवता कहलाते हैं। इसी परम लक्ष्य की पूर्ति करना चांद्रायण का आधारभूत उद्देश्य है।

चांद्रायण के तीन पक्ष है-(१) संयम साधना (२) प्रज्ञा उपासना (३) भविष्य निर्धारण की आराधना। संयम साधना में उपवास प्रमुख है। इस अवधि में सामान्य आहार की तुलना में आधा ही लिया जाता है। जो खाया जाए वह पूर्ण सात्त्विक एवं सुसंस्कारी हो इसका ध्यान रखा जाता है। संयम को ही तप कहते हैं। सामान्य जीवन में यह चार प्रकार से अपनाया जाता है। (१) इंद्रिय संयम के लिए ब्रह्मचर्य, मौन अस्वाद आदि की तितिक्षा (२) अर्थ संयम के लिए मितव्ययता। परिश्रमशीलता अपनाकर सादा जीवन उच्च विचार का अभ्यास। (३) समय संयम-एक घड़ी भी आलस्य प्रमाद में बरबाद न होने देना। दिनचर्या बनाकर उसके परिपालन में तत्परता बरतना (४) विचार संयम चिंतन की अस्त-व्यस्त उड़ानें भरने से रोकना। सौंपे हुए काम में ही मनोयोग नियोजित रखना। चान्द्रायण में यह चारों ही संयम साधनाएँ तपश्चर्या के रूप में निर्धारित करनी होती हैं। तपस्वी सच्चे अर्थों में सामर्थ्यवान बनता है। उसकी ऊर्जा से प्रखरता, परिपक्वता बढ़ती है। तपस्वी ही शरीरगत ओजस, मनोगत तेजस एवं अंतःकरण वर्चस से सुसंपन्न बनते हैं। इसी आत्मबल के सहारे ऋद्धि-सिद्धियों का द्वार खुलता है।

प्रज्ञा उपासना में गायत्री पुरश्चरण मुख्य है। ढाई घंटा नित्य का समय इसके लिए नियत है। इस बीच निर्धारित जप संख्या पूरी

की जाए। साथ ही प्रभातकालीन सूर्य किरणों का तीनों शरीर में प्रवेश करने का ध्यान किया जाए। अनुभव किया जाए कि गायत्री के प्राण सविता देवता का दिव्य आलोक जीवन सत्ता के कण-कण में प्रवेश करके तीन अनुदान प्रदान करता है। स्थूल शरीर को-सत्कर्म। सूक्ष्म शरीर को-सद्ज्ञान। कारण शरीर को सद्भाव। इन्हीं तीनों को क्रमशः निष्ठा, प्रज्ञा और श्रद्धा भी कहते हैं। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग के अंतर्गत इन्हीं दिव्य अनुदानों का विवेचन किया जाता है और तृप्ति, तुष्टि, शांति की त्रिविधि विभूतियों के सहारे देवोपम जीवन जी सकने का लाभ समझाया जाता है। जिनको यह दिव्य संपदा जितनी मात्रा में उपलब्ध होती है वह उसी अनुपात से आत्मसंतोष, जन-सहयोग एवं दैवी अनुग्रह का प्रतिफल हाथों-हाथ प्राप्त करता है। ऋतंभरा प्रज्ञा ही गायत्री है। प्रज्ञा-अर्थात दूरदर्शी विवेकशीलता। यही है मनुष्य का आराध्य इष्ट। इस दिशा में होने वाली प्रगति से इसी जीवन में स्वर्ग और मुक्ति के रसास्वादन का लाभ मिलता है।

भविष्य निर्धारण की आराधना के निमित्त इस अवधि में स्वाध्याय, सत्संग और चिंतन, मनन के चार प्रयोजनों में निरत रहना पड़ता है। नित्य कर्म उपासना के अतिरिक्त जो भी समय खाली मिले उसमें उन्हीं चार प्रयोजन में मन को लगाए रहना पड़ता है। इन चारों का लक्ष्य एक ही है-आत्म परिष्कार। उज्ज्वल भविष्य का योजनाबद्ध निर्धारण। इसके लिए आत्म निरीक्षण, आत्म सुधार-आत्म निर्णय एवं आत्म विश्वास के चारों प्रसंगों पर गंभीरतापूर्वक समुद्र मंथन जैसा आत्म चिंतन करते रहना होता है। ताकि ईश्वर प्रदत्त अलभ्य उपहार मनुष्य जन्म का सही उपयोग संभव हो सके। इसके लिए शरीर निर्वाह एवं परिवार पोषण की तरह ही परमार्थ प्रयोजनों को महत्त्व देना होता है। आत्म-कल्याण और लोक-मंगल की समन्वित जीवनचर्या का निर्धारण एवं अभ्यास ही आराधना है।

परमात्मा को आदर्शों का समुच्चय मानकर उसके साथ तादात्म्य होना उपासना है। जीवन को अधिकाधिक पवित्र एवं प्रखर बनाने वाली सुसंस्कारिता की अवधारणा साधना है। लोक-मंगल का परमार्थ और उसके सहारे अपनी सत्प्रवृत्तियों का संवर्द्धन ही आराधना है। उपासना परमात्मा की, साधना अंतरात्मा की और आराधना विश्वात्मा की की जाती है। चांद्रायण काल में बहिर्मुखी माया प्रपंच से अवकाश प्राप्त किया जाता है और उस अवधि में अंतर्मुखी रहकर अंतर्जगत का पर्यवेक्षण किया जाता है। इस दिशा परिवर्तन के लिए नियोजित आत्म साधना जितनी भावपूर्ण एवं गंभीर होगी उतना ही चांद्रायण का प्रत्यक्ष वरदान उपलब्ध होगा।

आहार साधना एक महत्त्वपूर्ण तपश्चर्या

आहार कल्प स्वयं में एक परिपूर्ण चिकित्सा है। यह तो मात्र मन की दुर्बलता है जो व्यक्ति को भाँति-भाँति के आहार स्वादेद्रिंयों की तृप्ति ग्रहण करने हेतु लालायित करती रहती है। स्वास्थ्य के बिगड़ने, जीवनी शक्ति कमजोर होने की प्रक्रिया यहीं से आरंभ होती है। अच्छा होता कि व्यक्ति प्रकृति में विचरण करते प्राणियों से कुछ शिक्षा लेता, अपना जीवन क्रम यथा संभव स्वाभाविक बनाए रखता। परंतु कृत्रिम जीवन का अभ्यासी मनुष्य आज अपने ढर्रे में कोई परिवर्तन किसी भी परिस्थिति में स्वतः स्वीकार नहीं करता। प्रकृति ही अपनी ओर से उसे दंड देती है तो उसे रोग विशेषों में पथ्यापथ्य के रूप में स्वाद में अच्छी लगने वाली वस्तुएँ बरबस छोड़नी पड़ती हैं।

इस ढर्रे को तोड़ने की विधि एक ही है, किसी तरह अपने वर्तमान परिकर से निकलकर न्यूनतम एक आहार पर रहने के क्रम को अपनाया जाए। इसके लिए किंचित मनोबल से ही काम चलाया जा सकता है। यह मृदु तपश्चर्या सफल हो गई तो आगे कड़ी तपस्या भी संभव है। आहार कल्प की दृष्टि से सामान्यतया अमृताशन का प्रयोग सर्वसुलभ माना जाता है। गेहूँ, चावल, मूँग इन तीन के

मिश्रण से दाल-चावल, दलिया-दाल का संयोग बनता है। अच्छा तो यह है एक धान्य से काम चलाया जाए। दलिया या चावल को दूध-गुड़ आदि के संयोग से स्वादिष्ट भी बनाया जा सकता है। अकेली मूँग भी उबाल कर एक महीने तक भोजन का काम भली प्रकार दे सकती है। आग्रह या असमर्थता हो तो दो का संयोग करना चाहिए। स्मरण रहे हर धान्य अपने आप में पूर्ण है। उसमें वे सभी वस्तुएँ मौजूद हैं जो शरीर के लिए आवश्यक हैं। सच तो यह है कि शरीर के पाचक रस ही विभिन्न खाद्यान्नों को अपने उपयुक्त परिवर्तित करते और बदलते हैं। सुअर और दुंबा मेढा के शरीर में चरबी की मात्रा अत्यधिक होती है। वे इसे मात्र घास से ही प्राप्त कर लेते हैं, जबकि घास में चरबी का अंश अत्यल्प मात्रा में होता है। शरीरगत पाचक रस सत्तू जैसी स्वत्व रहित वस्तु को भी उलट-पुलट कर शरीर के लिए उपयुक्त क्षमता वाले रक्त में बदल देते हैं। शाकाहार में एक अन्न, एक फल, एक शाक भर रहने में हरज नहीं। कल्प का वास्तविक तात्पर्य यही है। दूध कल्प, छाछ कल्प, आम्र कल्प, खरबूजा कल्प आदि का तात्पर्य ही यह है कि नियत अवधि तक एक ही वस्तु का सेवन किया जाए। दूसरी और कोई वस्तु पेट में न जाने दी जाए। एक अन्न से नाक-भौं सिकोड़ने वालों के लिए ही मूंग की दाल का मिश्रण करके संख्या दो कर लेने की छूट दी गई है। अन्यथा उपयुक्त यही है कि किसी एक अन्न पर निर्भर रहा जाए। उसके साथ दूसरी वस्तु का मिश्रण न किया जाए। किसी खाद्य पदार्थ को अपना पूरा प्रभाव दिखाने का अवसर इसी आधार पर मिलता है। अन्यथा दो या अधिक वस्तुओं का मिश्रण करने पर हर वस्तु अपना प्रभाव खोती चली जाती है। मिश्रणों के आधार पर नए-नए किस्म के चित्र-विचित्र प्रभाव उत्पन्न होते हैं और मूल विशेषता एक प्रकार से समाप्त ही होती जाती है।

अन्नों में प्राकृतिक अन्न कहीं अधिक प्राणवान होते हैं। गेहूँ, चावल आदि की प्रचलित किस्में चित्र-विचित्र संकरत्व करके,

विलक्षण-विलक्षण खाद देकर-कलम बनाई विकसित की गई हैं। फलतः आकृति मूल रूप से मिलती-जुलती रहने पर भी उनके गुणों में भारी अंतर आ गया है। ऐसी दशा में अच्छा तो यही होता है कि मनुष्य की करतूत से अछूते वन्य प्रदेशों में अपने आप उगने वाले धान्यों का प्रयोग कल्प काल में किया जाए। ऐसे धान्यों में उत्तर प्रदेश की भूमि में सामा, मकरा, मालकाँगनी, चैना, महुआ, जैसे जंगली अन्न कुछ समय तक पर्याप्त मात्रा मे उत्पन्न होते थे। गरीब लोग उन्हीं पर निर्वाह करते थे। वे अपेक्षाकृत अधिक पौष्टिक, सात्विक एवं गुणकारी होते हैं। जौ की एक प्राकृतिक किस्म 'जई' होती है। चावल में जंगली चावल को 'साठी' कहते हैं। इन सबके गुण पृथक-पृथक हैं। यदि इनमें से किसी एक अन्न का कल्प किया जा सके तो उसके चमत्कारी परिणाम उत्पन्न होंगे।

कठिनाई एक ही है कि अब भूमि का उपयोग कीमती फसलें उत्पन्न करने में होने लगा है। फलतः जंगली अन्नों के उत्पादन का क्षेत्र समाप्त होता चला जाता है। गरीब लोग भी अब उनके लिए प्रयत्न नहीं करते। फलतः वे अधिक पौष्टिक और सात्विक प्रजातियाँ क्रमशः लुप्त और समाप्त होती चली जा रही हैं। फिर भी जिन्हें अन्न कल्प करना हो उन्हें इतना तो ध्यान रखना ही चाहिए कि जिसका सेवन किया जाए वह सात्विक क्षेत्र में सात्विक खाद पानी से उत्पन्न किया गया हो। आजकल बूचर-खानों का रक्त, मछली का खाद, मनुष्य के मल-मूत्र की खाद वाले एवं गंदे पानी से सींचे गए अन्न अधिक मात्रा में उपजते तो हैं पर गुणों की दृष्टि से उनका स्तर घटिया एवं विकृत होता चला जाता है। रासायनिक खादें एवं कीटनाशक दवाएँ जब आहार का अंग बन जाती हैं तो पेट भरने के लिए उनका उपयोग भले ही होता रहे वे कल्प जैसे उच्चस्तरीय उद्देश्यों में प्रयुक्त होने योग्य रहती ही नहीं।

आहार की किस्म ही नहीं, उसका स्तर भी उत्तम हो तभी अभीष्ट उद्देश्यों की पूर्ति भली प्रकार होती है। पकाने वाले के

व्यक्तित्व का प्रभाव भी कम महत्त्व का नहीं। चाहे जैसी प्रकृति, आदत वाले, अस्वस्थ, अस्वच्छ, दुष्ट, दुर्गुणी, मूर्ख, अनगढ़ व्यक्ति का बनाया-परोसा भोजन भी उस उद्देश्य की पूर्ति में बाधा ही डालता है, जिसके लिए कि कल्प साधना जैसी तपश्चर्या की योजना बनी।

अन्न के बाद फल, ऋतु फल एवं शाकों का नम्बर आता है। जिनका अपना बगीचा है वे बिना कलम वाले पेड़ पर पके फल लेकर कल्प कर सकते हैं। बाजार में जो बिकते हैं उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जिनका कल्प के लिए उपयोग हो सके। आमतौर से वे पेड़ से कच्चे तोड़े जाते हैं। समय बीतते-बीतते पक जाते हैं या भूसे-अनाज आदि में दबाकर पकाए जाते हैं। इनका स्वाद भले ही मीठा हो जाए, गुणों की दृष्टि से वे नितांत कच्चे ही होते हैं और लाभ के स्थान पर हानि पहुँचाते हैं। कलमी आम, बेर, चीकू, जामुन, अमरूद आदि का इन दिनों खूब प्रचलन है। आकार और स्वाद उनका भले ही बढ़ा-चढ़ा रहे पर वे अपनी मौलिक विशेषताओं से कहीं अधिक दूर हट गए होते हैं। अस्तु, उनके प्रयोग की उपेक्षा ही की जानी चाहिए। वे महँगे भी तो होते हैं।

फलों के बाद मौसमी फलों की बारी आती है। इनमें आम, शहतूत, लीची, शरीफा, अनन्नास, बेर, अमरूद आदि को चुना जा सकता है। खरबूजा, तरबूजा तथा अनेक किस्म के आम हैं, वे भी प्रयोग में लाए जा सकते हैं। शाकों में लौकी, तोरई, परवल, टमाटर, गाजर, मूली, शलजम जैसी हलकी प्रकृति वाले शाक ही लेने चाहिए। आलू, अरबी, शकरकंद, जिमीकंद, रतालू आदि भी यों शाकों में गिने जाते हैं। वस्तुतः वे गुणों की दृष्टि से अन्न वर्ग में आते हैं, भारी पड़ते हैं। फलतः उनका कल्प प्रयोजनों में उपयोग नहीं होता। पत्तीदार शाकों में पालक, चौलाई, मेंथी, सरसों ग्राह्य हैं पर उन्हें पूरे आहार की तरह पचाने की क्षमता किन्हीं-किन्हीं में ही होती है। जिनका पेट गड़बड़ाता है, उन्हें दस्त होने लगते हैं। पीपल,

बरगद, गूलर, अंजीर किस्म के फल भी अपने प्रकृति के अलग ही हैं। महुए का फूल भी इस प्रयोजन में आ सकता है पर इनका पूर्ण परीक्षण इसी प्रकार कर लेना चाहिए, जैसे कि पेनेसिलीन आदि के प्रयोग से पूर्व उसकी प्रतिक्रिया जाँचने या चमड़ी पर जाँच-पड़ताल की जाती है। इनमें से किसी का प्रयोग करना हो तो पहले दस-पाँच दिन उन पर निर्भर रह कर पेट की क्षमता परख लेनी चाहिए। तब एक महीने की कल्प-साधना में उनका निश्चित उपयोग करने की बात सोचनी चाहिए।

ये कल्प हर किसी से नहीं निभ पाते। अपनी मनःस्थिति अपने से सही नहीं आंकी जा सकती। मार्गदर्शक से पूछे बिना किसी भी प्रयोग को आरंभ न करें, हर पक्ष पर पहले पूरा विचार कर लेना चाहिए। वर्णित धान्य, ऋतु फल, शाक आदि में से चाहे जो चुन लिया जाए ऐसा नहीं हो सकता। इन्हें उपचार की ही तरह प्रयुक्त किया जाता है। इसके लिए निर्णय करने से पूर्व साधक की शारीरिक, मानसिक स्थिति देखनी-जाँचनी होती है। उपरोक्त खाद्यों में से प्रत्येक की अपनी-अपनी विशेषताएँ तथा खामियाँ हैं। इसी प्रकार किसी प्रकृति या परिस्थिति के लिए कोई वस्तु अनुकूल कोई प्रतिकूल पड़ती है। एक वस्तु सभी के लिए एक जैसी प्रतिक्रिया उत्पन्न करे, ऐसा नहीं होता। इससे पेट के पाचक रसों और अभ्यस्त ढर्रे की भिन्नता के कारण एक ही खाद्य पदार्थ कई मनुष्यों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभाव छोड़ते हैं। इसलिए खाद्य की विशेषताएँ और उपयोगिताओं को साधक की भिन्नताओं को ध्यान में रखते हुए अनुभवी व्यक्तियों को ही यह निर्णय करना चाहिए कि किसे किस अन्न-शाक या फल आदि का कल्प कराया जाए। इसमें उपभोक्ता की रुचि के साथ भी तालमेल बिठाने की आवश्यकता पड़ती है। यदि कोई व्यक्ति किसी पदार्थ से सर्वदा अरुचि व्यक्त करे तो उसके उपयोगी होते हुए भी मनोवैज्ञानिक कारणों से वह उल्टी प्रतिक्रिया प्रकट करती है। जो लोग प्याज-लहसुन नहीं खाते

उन्हें उनकी गंध तक नहीं सुहाती और लाभ-हानि की चरचा करने से पूर्व ही उन्हें पूर्वाग्रहों के कारण उलटी आने लगती है। ऐसी दशा में कल्प कैसे हो?

जड़ी-बूटी कल्प का अपना पृथक विज्ञान है। किस व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक स्थिति के अनुरूप किस बूटी के रासायनिक पदार्थ उपयोगी पड़ते हैं, इसका तालमेल बिठाते हुए ही यह निर्णय करना पड़ता है कि किसके लिए किसका उपयोग समाधानकारक रहेगा।

कल्प साधना में आहार कल्प की तरह बूटी कल्प भी कराया जाता है। इसके लिए उसे एक महीने तक ५० ग्राम कल्क नित्य पेट में पहुँचाया जाता है। कल्क से तात्पर्य है—पतली चटनी। लगभग ठंडाई से कुछ गाड़ी सीरप स्तर की। निर्धारित बूटी का कल्क प्रात:काल खाली पेट लिया जाता है।

कल्प प्रयोजन के लिए पाँच बूँटियाँ ली गई हैं—(१) तुलसी (२) शंख पुष्पी (३) ब्राह्मी (४) शतावर (५) अश्वगंधा। यों इनके अतिरिक्त कई कल्प व्यवस्थाएँ आयुर्वेद में प्रचलित हैं जिनमें (१) त्रिफला (२) हरीतकी (३) पुनर्नवा (४) आँवला (५) विधारा (६) गिलोय (७) सोंठ (८) बिल्व (९) निर्गुंडी (१०) मूसली आदि प्रमुख हैं। किंतु उन्हें विशेष परिस्थितियों में—विशेष व्यक्तियों के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है। सामान्यत: उपरोक्त पाँच में से सभी अपने गुणों के अनुरूप सभी प्रकृति के व्यक्तियों की काया तथा मानवीय संरचना के अनुसार संतुलन बिठाने में काम दे जाती हैं। युवा व्यक्तियों को एक महीने में ५० ग्राम नित्य बूटी सेवन कराई जाती है। यह सेवन उतार-चढ़ाव की चांद्रायण पद्धति से होता है। प्रथम पंद्रह दिन थोड़ी-थोड़ी करके मात्रा बढ़ाना और फिर बाद के पंद्रह दिन में मात्रा को क्रमश: घटाते चलना। कल्प प्रयोग की यह एक विशेष पद्धति है। बूटी कल्प में गंगाजल ही प्रयोग होता है। उसे पीसने-छानने-बनाते

समय उस प्रयोजन के लिए निर्धारित नियमों का पालन करने वाले हाथ ही काम करते हैं। अन्नाहार एवं शाकाहार में पकाने की पद्धति में भी अध्यात्म स्तर के साथ जुड़ी हुई पद्धतियाँ अपने-अपने प्रभाव का समावेश कर देती हैं और वह सामग्री अपने ढंग की आंतरिक विशिष्टताओं से संपन्न हो जाती है।

पदार्थ के तीन स्वरूप हैं—ठोस, द्रव तथा वायु। उसी को आहार में अन्न, जल और साँस के माध्यम से ग्रहण किया और जीवित रहा जाता है। इसी क्रम का स्तर बढ़ा दिया जाए तो उसकी प्रभाव परिधि स्थूल शरीर से आगे बढ़कर सूक्ष्म और कारण शरीर तक जा पहुँचती है। कल्प साधना में वह आहार सेवन कराया जाता है जिसमें उसकी सूक्ष्म और कारण शक्ति भी संयुक्त रूप में सम्मिलित हुई हो। इस प्रकार उसे एक प्रकार का तप साधन जैसा व्रत, उपवास स्तर का परम सात्विक एवं दिव्य औषधि जैसी विशेषताओं से युक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। आहार की उत्कृष्टता एवं निर्माण तथा सेवन में जुड़ी हुई भावना का समावेश होने से उसका लाभ और भी अनेक गुना बढ़ जाता है।

अमृताशन में अन्न, बूटी कल्प और प्रज्ञापेय में जल तथा नित्य के अग्निहोत्र में सम्मिलित रहने पर वायुभूत आहार को मुख, नासिका तथा अन्यान्य छिद्रों के माध्यम से भीतर पहुँचाया जाता है। यह समग्र समुच्चय ऐसा है जिसमें तीनों शरीरों के परिशोधन एवं संवर्द्धन—ये दोनों ही उद्देश्य भली प्रकार पूर्ण होते हैं। अन्य चिकित्सा पद्धतियाँ मात्र व्यक्ति के अंग विशेषों का उपचार करती हैं और कारण समझे जाने वाले विष को अन्य विषाक्त द्रव्य से मारने का प्रयत्न करती हैं। किंतु कल्प साधना में प्रयुक्त होने वाला आहार उपचार ऐसा है जिसमें मात्र निवारण-निराकरण नहीं वरन परिवर्तन भी जुड़ा हुआ है।

अन्न को ब्रह्म कहा गया है। काया का समूचा ढाँचा प्रकारांतर से खाद्य की ही परिणति है। व्यक्तित्व के गुण, कर्म, स्वभाव का

मूलभूत ढाँचा आहार के आधार पर ही बनता है। शिक्षा आदि से तो उस ढाँचे को संभाला संजोया भर जाता है। यही कारण है कि अध्यात्म विज्ञान में आहार की उत्कृष्टता को अंतःकरण, विचार तंत्र एवं काय-कलेवर की पवित्रता-प्रखरता के लिए सर्वोपरि माध्यम माना गया है। व्रत उपवास में खाली पेट रहने के अतिरिक्त ऐसे पदार्थ सेवन करने का विधान है जो परम सात्विक हों तथा स्वल्प मात्रा में लिए गए हों। यह पद्धति कल्प साधना में अपनाई जाती है। इस प्रकार आहार साधना को एक प्रकार का उपवास समझा जा सकता है एवं इसके माध्यम से आत्म-परिष्कार की संभावना पर भली-भाँति विश्वास किया जा सकता है।

कल्प साधना का क्रिया पक्ष

चिंतन, आदत और विश्वास अंतराल के यह तीन क्षेत्र हैं। इन्हें क्रमशः मन, बुद्धि, चित्त कहते हैं। मनःक्षेत्र की यह तीन परतें हैं। इन्हीं को तीन शरीर, स्थूल, सूक्ष्म, कारण भी कहते हैं। पंच भौतिक काया तो इन तीनों की आज्ञा एवं इच्छा का परिवहन मात्र करती रहती है। आत्म सत्ता इनसे ऊपर है।

उपरोक्त शरीरों की परोक्ष स्थिति को परिष्कृत करने के लिए योगाभ्यास में तीन साधनाएँ हैं। स्थूल को मुद्राओं से, सूक्ष्म को प्राणयाम से और कारण को योगत्रयी से परिमार्जित किया जाता है। मुद्राओं में तीनों प्रधान हैं—(१) शक्तिचालिनी मुद्रा, (२) शिथिलीकरण मुद्रा, (३) खेचरी मुद्रा। प्राणायामों में तीन को प्रमुखता दी गई है—(१) नाड़ी शोधन प्राणायाम, (२) प्राणाकर्षण प्राणायाम, (३) सूर्यवेधन प्राणायाम। योगाभ्यासों में तीन प्रमुख हैं—(१) नादयोग, (२) बिंदुयोग, (३) लययोग। कल्प साधना में इन नौ का अभ्यास कराया जाता है। दिव्य अनुदान की ध्यान धारणा इन नौ के अतिरिक्त है। क्रियायोग के यह तीन प्रयोग साधक के त्रिविध शरीरों को परिष्कृत करने की उपयोगी भूमिका संपन्न करते हैं। शरीरों के हिसाब से इनका वर्गीकरण करना हो तो स्थूल शरीर

के निमित्त शक्तिचालनी मुद्रा, नाड़ी शोधन प्राणायाम और नादयोग की गणना की जाएगी। सूक्ष्म शरीर के निमित्त प्राणाकर्षण प्राणायाम, शिथिलीकरण मुद्रा और बिंदुयोग को महत्त्व दिया जाता है। कारण शरीर में खेचरीमुद्रा, सूर्यवेधन प्राणायाम और लययोग का अभ्यास किया जाता है।

हर साधक को उन नौ को एक साथ करना आवश्यक नहीं। त्रिविध योग साधनाएँ तो सभी को सामान्य परिमार्जन करने की दृष्टि से आवश्यक मानी गई हैं। इनको हर स्थिति के साधक को साथ-साथ चलाने का प्रावधान है। नादयोग, बिंदुयोग और लययोग का अभ्यास सभी कल्प साधकों की दिनचर्या में सम्मिलित है।

मुद्राएँ तथा प्राणायाम तीन-तीन हैं। इनमें से साधक के अंतराल का सूक्ष्म निरीक्षण करके एक-एक का निर्धारण करना पड़ता है। तीनों मुद्राएँ, तीनों प्राणायाम भी तीन योगों की तरह प्रतिदिन साधने पड़ें ऐसी बात नहीं हैं। मुद्राओं में से एक, प्राणायामों में से एक का ही चयन करना होता है। इस प्रकार तीन योग, एक मुद्रा, एक प्राणायाम का पंचविध कार्यक्रम हर एक की दिनचर्या में सम्मिलित रहता है।

इसे प्रकारांतर से पंचकोशी साधना भी कह सकते हैं। अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश की पंचमुखी उच्चस्तरीय साधना भी इसी को कह सकते हैं। इनके प्रतिफलों की उपमा पाँच प्रमुख देवताओं के पाँच प्रमुख वरदानों से दी गई हैं। (१) ब्रह्मा, (२) विष्णु, (३) महेश, (४) गणेश, (५) दुर्गा। उपरोक्त पाँच साधनाओं को इन पाँच देवताओं की साधना भी कह सकते हैं। पाँच कोशों को पाँच प्रकार के रत्नों का, पंच रत्नों का भंडार माना गया है। विभूतियाँ पाँच ही हैं। इन्हीं में ऋद्धि-सिद्धियों का समावेश समझा जा सकता है। (१) संयम, (२) साहस, (३) दिव्य दृष्टि (४) स्वर्ग, (५) बंधन-मुक्ति—इन पाँचों के अंतर्गत ही प्रत्यक्ष और परोक्ष जीवन की समस्त संपदाओं-सफलताओं का समावेश हो जाता है।

कल्प साधना के साधक यदि श्रद्धा, प्रज्ञा एवं निष्ठा का समुचित समावेश करते हुए इनकी साधना में सलंग्न रहें तो वे अपने में आश्चर्यजनक परिवर्तन का अनुभव करेंगे। काया रूपांतरण तो कठिन है। उसे दुर्बलताओं और रुग्णता से ही एक सीमा तक उबारा जा सकता है। परिवर्तन तो सदा अंतराल का ही होता है। इसी आधार पर क्षुद्र को महान, नर को नारायण, पुरुष को पुरुषोत्तम बनने का अवसर मिलता है। कामना का भावना में, क्षुद्रता का महानता में, तृष्णा का उदारता में जिस अनुपात में परिवर्तन होता है; उतना ही साधक सत्ता का स्तर ऊँचा उठता चला जाता है।

अपूर्णता से पूर्णता की ओर अग्रसर करने वाली इसी पुण्य-प्रक्रिया का नाम कल्प साधना है। उसे अध्यात्म चिकित्सा की श्रेणी में गिना जा सकता है। काय-चिकित्सा के लिए आयुर्वेद, तिब्बी, एलोपैथी, होमियोपैथी, नेचुरोपैथी आदि पद्धतियाँ प्रचलित हैं। मानसिक चिकित्सा के लिए सामान्यतया स्कूल, शिल्प, उद्योग, कला, कौशल आदि का अभ्यास करना पड़ता है। गुरुकुल, आरण्यकों के वातावरण में रहना पड़ता है। स्वाध्याय सत्संग भी इसी प्रयोजन के लिए है। तीसरा क्षेत्र कारण शरीर का बचता है। इसके लिए साधना ही एकमात्र आधार है। उसे तपश्चर्या और योग साधना के आधार पर ही गलाया ढाला जाता है। शरीर नरम है। मन उससे कठोर, अंत:करण को अतिकठोर माना गया है। उस पर जन्म-जन्मांतरों की मान्यताएँ, इच्छाएँ तथा आदतों की, भूगर्भ में पाई जाने वाली चट्टानी परतों से भी कठोर सतहें जमी होती हैं। उन्हें तोड़ने, उखाड़ने के लिए डायनामाइट की सुरंगों का प्रयोग करना पड़ता है। इसी प्रयोग का नाम अध्यात्म साधना है।

अंत:करण के परिवर्तन में इन्हीं को अपनाना पड़ता है। अध्यात्म लक्ष्य की दिशा में बढ़ने वालों को साधना का साहस संजोना ही पड़ता है। प्राचीनकाल में भी यही क्रम चलता रहा है और अब भी

उसी मार्ग पर धीमे या तेजी से चलने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं।

शारीरिक रुग्णता को दूर करने का दावा करने वाले चिकित्सालयों की कमी नहीं। मानसिक विकास एवं परिष्कार के प्रयासों में संलग्न शिक्षण संस्थाएँ भी बहुत हैं। आवश्यकता एक ही ऐसी थी जो सर्वोपरि महत्त्व की होते हुए सर्वाधिक उपेक्षित पड़ी थी। वह है—अंत:करण को परिमार्जित, परिष्कृत करने की अध्यात्म चिकित्सा। इस संदर्भ में कुछ कहने लायक कारगर व्यवस्था कहीं दीखती ही नहीं। जो चल रहा है उसमें भ्रांतियों एवं निहित स्वार्थों का इतना अधिक समावेश हो गया है कि होना, न होने से भी अधिक भारी पड़ता है। इस संदर्भ में कल्प साधना को आरंभिक—बालकक्षा वर्ग की तो कहा जा सकता है, पर है वह ऐसी जिसमें ब्रह्मविद्या के शाश्वत सिद्धांतों को अक्षुण्ण रखते हुए, समय के परिवर्तन और बुद्धिवादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण का भी समुचित समावेश रखा गया है।

अन्यान्य अनुशासनों तथा निर्धारणों के अतिरिक्त जहाँ तक योगाभ्यासों का संबंध है उसे उपरोक्त पंचधा प्रयोगों के रूप में समझना, समझाना चाहिए। शरीर पाँच तत्त्वों से बना है। चेतना भी पाँच प्राणों से विनिर्मित है। दोनों को पिछड़ेपन और पतन-प्रवाह से उबार कर भौतिक क्षेत्र में अग्रगामी और आत्मिक क्षेत्र में ऊर्ध्वगामी बनाने की आवश्यकता है। गायत्री को पंचमुखी कहा गया है। उसके पाँच ज्ञानपक्ष और पाँच क्रियापक्ष हैं। ज्ञानपक्षों में (१) ज्ञानयोग, (२) कर्मयोग (३) भक्तियोग, (४) प्रज्ञायोग, (५) परमार्थयोग की पंचधा व्यवस्थाएँ हैं।

कल्प साधना में जहां पंच ज्ञानपक्षों का उपरोक्त निर्धारण है वहीं पंचधा क्रिया योगों का भी स्वाध्याय, सत्संग, मनन चिंतन का समर्थ तंत्र खड़ा करके संचित कषाय-कल्मषों का निष्कासन एवं उच्चस्तरीय आस्थाओं का प्रतिष्ठापन किया जाता है। इस प्रकार

आरंभिक सोपान को भी निर्धारण की दृष्टि से पूर्णता युक्त कहा जा सकता है।

क्रिया-कृत्यों के सही स्वरूप के निर्धारण अवलंबन में जितनी जागरूकता एवं तत्परता की आवश्यकता पड़ती है उससे भी अधिक इस क्षेत्र में श्रद्धा का सघन आरोपण आवश्यक होता है। इसके अभाव में सारी विधि-व्यवस्था मात्र कलेवर बनकर रह जाती है और प्राण रहित काय-कलेवर की तरह उसकी भी मात्र दुर्गति ही होती है। इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से उबर कर अध्यात्म उपचार और संवर्द्धन का उभयपक्षीय प्रयोजन पूर्ण करने के लिए कल्प साधना का उपक्रम प्रस्तुत किया गया है।

चांद्रायण-तप और पंचकोशी योगाभ्यास

चांद्रायण तप का एक विशेष पक्ष है-कष्ट सहन। जिसमें आहार घटाने-बढ़ाने की तितिक्षा प्रमुख है। दोषों के प्रकटीकरण में भी पश्चाताप करने और लज्जित होने का मानसिक कष्ट है। क्षतिपूर्ति के लिए दान पुण्य करना अर्थ दंड है। तीर्थयात्रा आदि सत्कार्यों के लिए श्रमदान जैसे परमार्थों में भी कष्ट सहने और त्याग करने की ही बात है। यह सारा समुच्चय आत्म-प्रताड़ना परिकर का है। परिशोधन की प्रक्रिया निषेघात्मक होने के कारण कष्ट की ही हो सकती है।

दूसरा विधायक पक्ष है—योग, जिसमें परित्याग की रिक्तता पूर्ण करनी पड़ती है। यह उपार्जन है। आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ना योग है। योग से हर किसी का परिमाण बढ़ता है। विस्तार, मूल्य और सामर्थ्य में वृद्धि होती है। परित्याग से जो घाटा पड़ा था उसकी कमी योग की कमाई द्वारा पूरी हो जाती है। शौच जाने से पेट खाली होता है। तभी उस युग्म उपक्रम से शरीर यात्रा का पहिया आगे लुढ़ता है।

ब्रह्मवर्चस साधना का यह भूमि शोधन पथ चांद्रायण तप से पूरा होता है। इसके उपरांत बीज बोने और खाद पानी लगाने की

अभिवर्धन उद्देश्य के लिए की जाने वाली प्रक्रिया योग साधना द्वारा संपन्न होती है।

ब्रह्मवर्चस योगाभ्यास पंचमुखी गायत्री की पंचकोशी साधना है। पाँच प्राणों से चेतना का और पाँच तत्त्वों से काया का निर्माण हुआ है। इन दोनों प्रवाहों के मध्यवर्ती दिव्य शक्ति स्रोतों को पंचकोश कहते हैं। योगशास्त्र के विद्यार्थी जानते हैं कि अन्नमय कोष, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनंदमय कोश–यह पाँच शक्तिशाली आवरण आत्मा पर चढ़े हैं। इन्हें सुरक्षा कवच, वाहन, आयुध आदि भी कहा जा सकता है। यह रहस्यमय रत्न भंडार हैं जिनमें सिद्धियों और विभूतियों के मणिमुक्तक प्रचुर परिमाण में भरे पड़े हैं। चावी न होने पर तिजोरी में भरी धन राशि भी अपने किसी काम नहीं आती और अधिपति को भी अभावग्रस्त रहना पड़ता है। इसी प्रकार इन दिव्य कोशों का द्वार बंद रहने पर— आवरण चढ़ा रहने पर मनुष्य को दुःखी–दरिद्रों की तरह गया–गुजरा जीवनयापन करना पड़ता है।

उच्चस्तरीय गायत्री उपासना को पंचकोशों की अनावरण साधना कहते हैं। इसी योगाभ्यास को हठयोग की पद्धति के अंतर्गत चक्रवेधन एवं कुंडलिनी जागरण साधना कहते हैं। षटचक्रों का नाम सभी ने सुना है। भ्रू–मध्य भाग से मस्तिष्क प्रारंभ होता है और वह मेरुदंड में होकर जननेन्द्रिय क्षेत्र तक चला जाता है। यह समूची परिधि ब्रह्मलोक या ब्रह्मरंध्र कहलाता है। इसमें सात शक्ति संस्थान हैं। इनमें से छै मध्यवर्ती सक्रिय स्रोत षटचक्र हैं। एक इन सबका अधिपति नियंत्रक है; जिसे महाचक्र— सहस्रार चक्र कहते हैं। इस प्रकार यह पूरा परिकर गिना जाए तो सप्तचक्र बन जाते हैं। इन्हीं का पिंड–ब्रह्मांड में अवस्थित सप्तऋषि, सूर्य के सप्त अश्व, सप्त लोक, सप्त सिंधु, सप्तमेरु, सप्त द्वीप, सप्त तीर्थ आदि अलंकारिक निरूपणों के साथ अध्यात्म शास्त्रों में वर्णन मिलता है।

सप्त चक्रों की भी एक विवेचना यह है कि नीचे का मूलाधार और ऊपर का सहस्रार यह दोनों क्रमशः प्रकृति और पुरुष के, शक्ति और शिव के, रयि और प्राण के, धरती और स्वर्ग के प्रतीक हैं। पृथकता की स्थिति में यह दोनों बहुत ही स्वल्प काम कर पाते हैं। मूलाधार प्राय: प्रजनन का ताना बुना बुनता है और शरीर को ऊर्जा, साहस, उत्साह आदि प्रदान करता है। सहस्रार की अर्द्धमूर्छित, स्थिति में अचेतन और चेतन दोनों मिल कर कायिक गतिविधियों का संचालन और चिंतन वर्ग के प्रयोजन पूरे करते रहते है। यह इन दोनों का निर्वाह मात्र के लिए चलते रहने वाला स्वल्प कार्य है। यदि उन दोनों की तंद्रा छुड़ा दी जा सके और वे समर्थ सक्रिय हो उठें तो फिर समझना चाहिए कि अनंत शक्तियों के, सिद्धियों के स्रोत खुल पड़ेंगे और मनुष्य साधारण से असाधारण बन जाएगा। ॠषि, देवता और अवतारी मनुष्य इसी स्तर के होते हैं, उनकी आंतरिक मूर्छना जागृति में परिणत हो गई होती है। कुंभकरण का पौराणिक उपाख्यान इसी स्थिति की झाँकी कराता है। जब भी वह दैत्य जागता था अपनी सामर्थ्य का हाहाकारी परिचय प्रस्तुत करता था। मूलाधार की सामर्थ्य को सर्पिणी कहते हैं और सहस्रार को महासर्प कहा गया है। इन्हीं शक्तियों को सावित्री और गायत्री नाम से परब्रह्म की दो पत्नियाँ कहा गया है। इन दोनों के मिलन को कुंडलिनी जागरण कहते हैं। बिजली के अलग-अलग पड़े तार जब भी मिलते हैं तो चिनगारी छूटती और शक्तिधारा प्रवाहित होती है। इसी स्थिति को कुंडलिनी जागरण कहते हैं। यह सौभाग्य सुअवसर जिन्हें प्राप्त होता है वे भौतिक सिद्धियों और आत्मिक विभूतियों से सुसंपन्न पाए जाते हैं। वे आत्मोत्कर्ष का परम लक्ष्य प्राप्त करते और अपूर्ण से पूर्ण बनते हैं। ईश्वर प्राप्ति इसी स्थिति का नाम है।

सहस्रार को महासर्प कहा गया है। विष्णु की शेष शैया भी वही है। शिव के अंग में वही लिपटा है। समुद्र मंथन में रस्सी का

काम वही करता है। सर्पिणी के रूप में कुंडलिनी शक्ति का वर्णन प्रायः होता रहता है। वह अधोमुखी-निद्रित स्थिति में पड़ी रहती है। जागृत होने पर ऊपर उठती है और अग्नि शिखा के रूप में देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक तक पहुँचती है। यह अलंकारिक वर्णन इस बात का है क जननेंद्रिय मूल में पड़ी हुई यह महाशक्ति जब ऊर्ध्वगामी बनती है तो मेरुदंड मार्ग से ब्रह्मरंध्र तक जा पहुँचती है और उस क्षेत्र में सन्निहित अगणित दिव्यताओं को अनायास ही जागृत करती है। इसी स्थिति में अतींद्रिय-क्षमताओं का जागरण होता है। समुद्र मंथन से चौदह रत्न निकलने के उपाख्यान में मूलाधार के कुंडगहवर को समुद्र, मेरुदंड को सुमेरु पर्वत, सूर्यवेधन प्राणायाम के इड़ा पिंगला संघर्ष को मंथन माना जाता है। समुद्र मंथन कुंडलिनी जागरण का महा पुरुषार्थ है जिसमें चेतना के देव पक्ष और काया के दैत्य पक्ष को मिल-जुलकर साधनारत होना होता है। इसका सत्परिणाम समुद्र मंथन से निकले १४ प्रसिद्ध रत्नों की तरह साधक को दिव्य विभूतियों के रूप में प्राप्त होता है।

मूलाधार और सहस्रार को, नीचे ऊपर वाले महाचक्रों को यदि कुंडलिनी जागरण साधना के विशेष वर्ग में गिन लिया जाए तो शेष मध्यवर्ती पाँच चक्र ही रह जाते हैं। इन्हें पाँच कोश या पाँच चक्र कह सकते हैं। कोश व्याख्या में इन्हें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय कहते हैं। चक्र वर्णन में इन्हीं को स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र कहा जाता है। यह एक ही तथ्य का दो रूप में वर्णन विवेचन मात्र है। वस्तुतः हैं एक ही। चक्रों का जागरण या कोशों का अनावरण एक ही बात है। संख्या की दृष्टि से पाँच, छैः या सात की गणना से किसी को भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। गायत्री माता के पाँच मुखों की उच्चस्तरीय साधना परम शांतिदायिनी और महान शक्तिशालिनी साधना है। इसी प्रक्रिया को ब्रह्मचर्य का योगाभ्यास साधना पक्ष समझा जाना चाहिए।

मृदु चांद्रायण की साधना विधि

मृदु चांद्रायण व्रत सरल होते हुए भी परिणाम की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। शारीरिक कष्ट उतना ही उठाया जाना चाहिए जितने से स्वास्थ्य का संतुलन बिगड़ने की आशंका उत्पन्न न हो । करना तो कठिन ही करना, न करना तो बिल्कुल छोड़ देना, यह नीति ठीक नहीं। औचित्य मध्यम मार्ग का ही है। बीच का काम चलाऊ मार्ग निकाल लेने से सत्कर्मों की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति बनी रहती है। बौद्ध धर्म में मध्यम मार्ग की ही प्रतिष्ठा मानी गई है। वे उत्साहवर्द्धक रहते हैं और उस मार्ग पर चलने का साहस बना रहता है। चांद्रायणव्रत के आशाजनक लाभों को देखते हुए मन उसे करना तो चाहता है पर विधान की कठोरता को देखते हुए वैसा साहस नहीं होता। ऐसी दशा में मृदु चांद्रायण व्रत का मध्यम मार्ग अपनाना ही बुद्धिमत्तापूर्ण रहेगा।

मृदु चांद्रायण व्रत किसी भी मास की पूर्णिमा से आरंभ करके अगली पूर्णिमा को समाप्त करना चाहिए। यों ज्येष्ठ, श्रावण, आश्विन, मार्गशीर्ष और माघ इसके लिए विशेष शुभ माने गए हैं पर निषेध किसी भी महीने का नहीं है।

लिखा यह है कि मनुष्य का पूर्ण आहार जितना हो उसका एक आहार-पिंड बनाना चाहिए। पूर्णिमा के दिन वह पूरा पिंड खाया जाए। फिर कृष्णपक्ष में चंद्रमा की एक-एक कला जिस प्रकार घटती है उसी प्रकार एक-एक अंश घटाते चलना चाहिए। पूर्ण पिंड को तोलकर उसका चौदहवाँ अंश प्रतिदिन घटाते रहा जाए। इस प्रकार घटाते-घटाते कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को एक अंश मात्र लिया जाए और अमावस्या को पूर्ण निराहार रहा जाए।

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को भी निराहार रहना चाहिए। चंद्रमा अमावस्या और प्रतिपदा दो दिन दिखाई नहीं पड़ता, इसलिए दोनों दिन आहार न लेने का विधान है। फिर जिस क्रम से एक-एक चौदहवाँ अंश कृष्ण पक्ष में घटाया गया था,

उसी प्रकार शुक्लपक्ष में चंद्रमा की कलाओं की तरह भोजन भी बढ़ाते रहा जाए। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन जितना आहार लिया था उतना ही दौज को लिया जाए और जितना कृष्णपक्ष की त्रयोदशी को लिया गया था उतना शुक्लपक्ष की तीज को। इस प्रकार पूर्णिमा को उतने पूरे आहार तक पहुँच जाना चाहिए जितना कि आरंभ करते हुए पिछले मास की पूर्णिमा को लिया गया था।

किसी-किसी पक्ष में तिथियाँ घट या बढ़ जाती हैं। पंचाग देखकर उसी क्रम से आहार के अंशों को भी घटा या बढ़ा लेना चाहिए। यदि किसी पक्ष में एक तिथि बढ़े तो चौदह के स्थान पर पन्द्रहवें अंश को घटाने या बढ़ाने का क्रम रखना चाहिए। और यदि एक तिथि घट जाए तो तेरह का क्रम घटाना या बढ़ाना उचित है। चंद्रमा की कलाओं पर इस व्रत का आधार रहने से आहार के घटाने या बढ़ाने का क्रम भी उन्हीं के अनुसार बदलना पड़ता है।

आहार के लिए 'पिंड' शब्द प्रयोग होने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में खिचड़ी, दलिया, सत्तू, या ऐसी ही कोई चीज पकाकर उसका एक गोला बना लिया जाता होगा और उस गोले का भार प्रतिदिन घटाया बढ़ाया जाता रहता होगा। इससे यह प्रतीत होता है कि आहार में भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुएँ न रहती होंगी। एक या कई वस्तुओं को मिलाकर एक ही जगह पका लिया जाता होगा। इस व्यवस्था में अनेक खाद्य पदार्थों के द्वारा अनेक स्वाद प्राप्त करने वाली स्वाद-लोलुपता का निषेध है। अनेक प्रकार की वस्तुएँ एक समय में खाना वैज्ञानिक दृष्टि से भी स्वास्थ्य के लिए हानिकारक माना जाता है। यह प्रथा तो केवल जिह्वा की लोलुपता पूरी करने के लिए ही चली है। चूँकि चांद्रायण व्रत में स्वास्थ्य सुधार और लोलुपता पर नियंत्रण का इंद्रिय संयम भी जुड़ा हुआ है इसलिए आहार-पिंड की व्यवस्था का महत्त्व भी सहज ही समझ में आ जाता है।

'पिंड' शब्द से एक और बात भी प्रकट होती है कि आहार एक बार ही लिया जाए। यदि दोनों समय लेने का विधान रहा होता तो चौदह के स्थान पर अट्ठाईस भागों में पूर्ण भोजन को विभाजित करने की व्यवस्था रही होती।

उपरोक्त व्यवस्था की भावना को ध्यान में रखते हुए आज की परिस्थितियों में कुछ ढील भी रखी जा सकती है। पिंड न बनाकर भले ही रोटी-शाक, दाल-भात, जैसी वस्तुएँ अलग-अलग बना ली जाएँ पर उनकी संख्या दो ही रहे तो उत्तम है। अधिक वस्तुओं का भोजन में होना आहार संबंधी विलासिता है, इसमें रजोगुण या तमोगुण की प्रधानता हो जाती है। आहार में खाद्य-पदार्थों की संख्या जितनी कम रहेगी उतना ही वह सात्विक माना जाएगा। संयमी संत-महात्मा भिक्षा में कई प्रकार की वस्तुएँ भिन्न-भिन्न घरों से प्राप्त करते हैं तो उन्हें मिलाकर इकट्ठा कर लेते हैं ताकि जिह्वा की लोलुपता को पनपने का अवसर न मिले। चांद्रायण व्रत करने वालों को इतना नियम रखना ही चाहिए कि आहार में दो प्रकार की वस्तुओं से अधिक संख्या न हो। मिर्च-मसाले छोड़ देने ही उचित हैं। अस्वाद-व्रत पालन करते हुए नमक और शक्कर छोड़कर अलौना भोजन बन पड़े तो सर्वोत्तम है, अन्यथा सेंधा नमक काम में ले सकते हैं। सेंधा नमक सात्विक माना गया है। मिर्च के बिना काम न चले तो कालीमिर्च, अदरख या सोंठ ली जा सकती है। आँवला या नीबू की खटाई ग्रहण की गई है। अन्य खटाई वर्जित हैं। हींग, लालमिर्च और गरम मसाले सर्वथा त्याज्य हैं। हल्दी, जीरा, धनियाँ इन तीन का निषेध नहीं है।

आरंभ करते समय पूर्णिमा को लिए गए एक समय के भोजन का चौदहवाँ अंश घटाना पड़ता है। इस प्रकार दिनभर के भोजन का आधा अंश तो पहले ही कम हो जाता है और शेष आधे में भी प्रतिदिन कमी होती चलती है। इतना कठिन अल्पाहार एक महीने

तक चलाने में दुर्बल स्वभाव या शरीर वाले व्यक्ति घबराते हैं। इसलिए मध्यम मार्ग यह हो सकता है कि सायंकाल को भी थोड़ा दूध, दही, शाक का रसा या फलों का रस—इनमें से कोई एक चीज ले ली जाया करे। इससे भूख भी असहनीय न रहेगी और शरीर भी दुर्बल न होगा। इसी प्रकार प्रात:काल भी इन्हीं में से कोई पेय पदार्थ लिया जा सकता है। नीबू और शहद मिला हुआ पानी आवश्यकतानुसार दिन में कई बार भी लिया जा सकता है। अन्नाहार दोपहर को एकबार ही लेना चाहिए।

आहार को घटाने और बढ़ाने का यह क्रम मानसिक और आत्मिक पवित्रता की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही, साथ ही पेट के पाचन तंत्रों को विश्राम देकर उनकी नष्ट हुई शक्तियों को पुनः सजीव बनाने के लिए भी उपयोगी सिद्ध होता है। पर आहार की न्यूनाधिकता मात्र ही चान्द्रायण व्रत नहीं है। इसका मूल उद्‌देश्य अंत:करण पर चढ़े हुए मल-आवरण और विक्षेपों का समाधान तथा किए हुए पापों का प्रायश्चित करना भी है। आंतरिक पवित्रता की अभिवृद्धि के लिए ही चांद्रायण व्रत किए जाते हैं। शारीरिक लाभ तो एक गौण बात है।

इसलिए व्रत काल के एक महीने में गायत्री उपासना का भी एक नियमित कार्यक्रम बना लेना चाहिए। तीस दिनों में सवा लक्ष गायत्री का जप अनुष्ठान करने के लिए प्रतिदिन ४२ माला जप करना पड़ता है। उसमें प्रायः ४ घंटे लगते हैं। प्रातः ढाई तीन घंटे और सायंकाल एक-डेढ़ घंटा लगाने से यह उपासना आसानी से पूर्ण हो जाती है।

ब्रह्मचर्य, भूमि या तख्त पर सोना, अपने शरीर की सेवा स्वयं करना—हजामत, कपड़े धोना आदि कार्य स्वयं करने चाहिए। भोजन पकाने में अपना अभ्यास न हो तो माता या पत्नी से सहायता ली जा सकती है। पर चाहे जिसके हाथ का बना हुआ भोजन भी उन दिनों नहीं करना चाहिए। क्योंकि पकाने वाले व्यक्ति के संस्कार

यदि अच्छे न हुए तो उसका प्रभाव अपनी मनोभूमि पर पड़ेगा और व्रत का जो लाभ मिलना चाहिए वह न मिलेगा। दूसरों की शारीरिक सेवा लेना तो वैसे भी उन दिनों वर्जित रहता है। चमड़े का उपयोग वर्जित है। क्योंकि आजकल ९९ प्रतिशत चमड़ा हत्या करके उपलब्ध किया जाता है और उसका उपयोग करने वाले के शिर पर भी उस हत्या का आसुरी प्रभाव पड़ता है। लकड़ी, रबड़ या कपड़े के जूते इस व्रत काल में प्रयोग करने चाहिए।

त्रिविधि मुद्राएँ और उनकी प्रतिक्रियाएँ

शरीर एवं स्थूल अवयवों के विशिष्ट व्यायामों को आसन कहते हैं। वे साधारण कसरतों से भिन्न हैं। कसरत की पहुँच प्रधानतया मांस-पेशियों तक सीमित रहती है। नस-नाड़ियों पर भी उनका प्रभाव पड़ता है, किंतु आसानों की विशेष व्यवस्था में ऐसे आधार सन्निहित हैं, जिनके सहारे भीतरी अवयवों को भी प्रभावित किया जा सके। आमाशय, आँखें, जिगर, गुर्दे, फेंफड़े, हृदय और प्रमुख अवयवों को आसनों के द्वारा प्रभावित किया जाता है। उनकी असमर्थता एवं रुग्णता के निवारण में आसानों द्वारा विशेष सहायता मिलती है। किस स्थिति में किस आसन का उपयोग कितने समय तक किया जाए, इसके लिए साधक की शारीरिक, मानसिक स्थिति का पर्यवेक्षण आवश्यक है। निदान के उपरांत ही उपयुक्त उपचार की बात बनती है। इस संदर्भ में व्यायाम को अधिक स्थूल एवं आसनों को अधिक गहरी पहुँच वाला—सूक्ष्म माना जाता है।

इनके उपरांत गहराई की तीसरी परत में मुद्राओं का नंबर आता है। वे प्रधानतया इंद्रियों की रहस्यमयी शक्ति से संबंधित हैं। उनका प्रभाव इतनी गहराई तक पहुँचता है कि ज्ञानेंद्रियों की क्षमता अधिक प्रखर बनाई जा सके और यदि उनमें किसी प्रकार दुर्बलता रुग्णता का समावेश हो गया है तो उनका निराकरण, निवाराण आरंभ हो सके।

हठयोग के प्रयोगों में बीस मुद्राओं का उपयोग होता है। उनमें से कुछ का प्रभाव शारीरिक, कुछ का मानसिक, कुछ का कारण क्षेत्रों की गहराई तक होता है। इनमें से सभी को जानना, सीखना कल्प साधना साधकों के लिए न तो आवश्यक है और न उपयोगी। उनमें से जो प्रमुख प्रभावोत्पादक अधिक सरल एवं अधिक उपयोगी परिणाम उत्पन्न करने वाली हैं, मात्र ऐसी ही तीन को लिया गया है। प्राणायामों की तरह मुद्राओं में भी तीनों का प्रयोग नहीं करना पड़ता है वरन स्थिति के अनुरूप जो सरल हो उन्हीं को उस अवधि में कार्यान्वित कराने के लिए निश्चित किया जाता है।

मुद्राओं में से तीन ली गई हैं (१) शक्तिचालिनी (२) शिथिलीकरण मुद्रा (३) खेचरी मुद्रा। इनमें से शक्तिचालिनी का संबंध मूलाधार से है। कुंडलिनी का निवास केंद्र यहीं है। पौरुष, प्रजनन, उत्साह इसी केंद्र से संबंधित हैं। शक्तिचालिनी के आधार पर मूलाधार को जागृत, नियंत्रित एवं अभीष्ट उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। शिथिलीकरण मुद्रा का संबंध हृदयचक्र से है। उस स्थान से जीवनीशक्ति, बलिष्ठता एवं तेजस्विता का संबंध है। भावनाओं को दिशा देना भी इसी क्षेत्र के प्रयत्नों से बन पड़ता है। तीसरी खेचरी मुद्रा है। इसका संबंध ब्रह्मरंध्र, सहस्रार कमल से है। पुराणों में इसी को क्षीरसागर, कैलाश पर्वत की उपमा दी गई है। यहाँ मन, बुद्धि, चित्त से संबंधित सभी तंत्र विद्यमान हैं। खेचरी मुद्रा के द्वारा उनमें से किसी को भी, किसी भी प्रयोजन के लिए जागृत एवं तत्पर किया जाता है। मंदता, तनाव से लेकर मनोविकारों तक में इस केंद्र की सहायता ली जा सकती है।

अध्यात्म विज्ञान में सूक्ष्म शरीर की तीन रहस्यमयी शक्तियों का उल्लेख है—(१) ब्रह्मग्रंथि (२) विष्णुग्रंथि (३) रुद्रग्रंथि। ब्रह्मग्रंथि खेचरी मुद्रा से, विष्णुग्रंथि शिथिलीकरण से और रुद्र ग्रंथि शक्तिचालिनी से संबंधित है। इन तीनों के स्वरूप, कारण, रहस्य, अभ्यास एवं प्रतिफल साधना ग्रंथों में विस्तारपूर्वक बताए गए हैं।

उन सबका सार-संक्षेप इतना ही है कि मस्तिष्क, हृदय और प्रजनन तंत्र में वरिष्ठता उत्पन्न करने के लिए उपरोक्त तीन मुद्राओंकी साधनाओं का प्रयोग किया जा सकता है और उनका चमत्कारी प्रतिफल देखा जा सकता है।

तीनों मुद्राओं का परिचय इस प्रकार है—(१) शक्तिचालनी मुद्रा—यह मुद्रा वज्रासन या सुखासन में बैठकर की जाती है। इसमें मल एवं मूत्र संस्थान को संकुचित करके उन्हें ऊपर की ओर खींचा जाता है। खिंचाव पूरा हो जाने पर उसे धीरे से शिथिल कर देते हैं। प्रारंभिक स्थिति में दो मिनट व धीरे-धीरे पाँच मिनट तक बढ़ाते हुए यही क्रिया बार-बार दुहराएँ। उड्डियान बंध में स्थित आँतों को ऊपर की ओर खींचा जाता है, यह क्रिया स्वतः शक्तिचालिनी मुद्रा के साथ धीरे-धीरे होने लगती है। पेट को जितना ऊपर खींचा जा सके, खींच कर पीछे पीठ से चिपका देते हैं। उड्डियान का अर्थ है—उड़ना। कुंडलिनी जागृत करने चित्तवृत्ति को अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी करने की यह पहली सीढ़ी है। इससे सुषुम्ना नाड़ी का द्वार खुलता है, मूलाधार चक्र में चेतना आती है। इन दोनों क्रियाओं के द्वारा समूचे कुंडलिनी क्षेत्र पर ऐसा सूक्ष्म विद्युतीय प्रभाव पड़ता है जिससे इस शक्ति स्रोत के जागरण व मेरुदंड मार्ग से ऊर्ध्वगमन के दोनों उद्देश्य पूरे होते हैं।

(२) शिथिलीकरण मुद्रा-योगनिद्रा—इस मुद्रा का अभ्यास शवासन में लेट कर अथवा आराम कुर्सी पर शरीर ढीला छोड़कर किया जाता है। यह क्रिया शरीर, मन, बुद्धि को तनाव से मुक्त करके नई चेतना से अनुप्रामाणित कर देती है। साधक को शरीर से भिन्न अपनी स्वयं की सत्ता की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है।

कोलाहल मुक्त वातावरण में शवासन में लेटकर पहले शरीर शिथिलीकरण के स्वयं को निर्देश दिए जाते हैं। शरीर के निचले अंगों से आरंभ करके शनैःशनैः यह क्रम ऊपर तक चलते हैं। हर अंग को एक स्वतंत्र सत्ता मानकर उसे विश्राम का स्नेह भरा निर्देश

देते हैं। कुछ देर उस स्थिति में छोड़कर धीरे से श्वास तीव्र करके शरीर को कड़ा और फिर ढीला होने का निर्देश दिया जाता है। धीरे-धीरे शारीरिक शिथिलीकरण सधने पर क्रमशः मानसिक शिथिलीकरण एवं दृश्य रूप में शरीर पड़ा रहते देखने, चेतना सत्ता के सरोवर में ईश्वर को समर्पित कर देने की भावना की जाती है।

शिथिलीकरण योगनिद्रा का प्रथम चरण है। अचेतन को विश्राम देने-नई स्फूर्ति दिलाने तथा अंतराल के विकास-आत्मशक्ति के उद्‌भव का पथ-प्रशस्त करने की यह प्रारंभिक क्रिया है।

(३) खेचरी मुद्रा—शांत मस्तिष्क को ब्रह्मलोक और निर्मल मन को क्षीर सागर माना गया है। मनुष्य सत्ता और ब्रह्म लोकव्यापी समष्टि सत्ता का आदान-प्रदान ब्रह्मरंध्र मार्ग से होता है। यह मस्तिष्क का मध्य बिंदु है, जीवसत्ता का नाभिक है, यही सहस्रार कमल है। मस्तिष्क मज्जा रूपी क्षीरसागर में विराजमान विष्णु सत्ता के सान्निध्य और अनुग्रह का लाभ लेने के लिए खेचरी मुद्रा की साधना की जाती है। ध्यान मुद्रा में शांत चित्त से बैठकर जिह्वाग्र भाग को तालु—मूर्धा से लगाया जाता है। सहलाने जैसे मंद-मंद स्पंदन किए जाते हैं। इस उत्तेजना से सहस्रदल कमल की प्रसुप्त स्थिति जागृति में बदलती है। बिंदु छिद्र खुलते हैं और आत्मिक अनुदान जैसा रसास्वादन जिह्वाग्र भाग के माध्यम से अंतःचेतना को अनुभव होता है। यही खेचरी मुद्रा है।

तालु मुद्रा को कामधेनु की उपमा दी गई है और जीभ के अगले भाग से उसे सहलाना सोमपान या पयपान कहलाता है। इस क्रिया से आध्यात्मिक आनंद की, उल्लास की अनुभूति होती है। यह दिव्यलोक से आत्मलोक पर होने वाली अमृत वर्षा का चिन्ह है। देवलोक से सोमरस की वर्षा होती है। अमृत कलश से प्राप्त अनुदान आत्मा को अमरता की अनुभूति देते हैं।

तीनों ही मुद्राएँ भावना प्रधान है। चिंतन के साथ भाव-संवेदनाएँ जितनी प्रगाढ़ होंगी उतनी ही क्रिया प्राणवान बनेगी। कृत्य को ही

सब कुछ मानने वालों को इस मूलभूत तथ्य को सर्वप्रथम हृदयंगम कर लेना चाहिए।

तीन विशिष्ट प्राणायाम और उनके प्रतिफल

प्राणवान बनने के लिए लोक व्यवहार में ही कई उपाय हैं, पर अध्यात्म विज्ञान के अनुसार प्राणविद्या के सहारे भी इस क्षेत्र में बहुत कुछ प्राप्त किया जा सकता है। प्राण उपचार के कितने ही मार्ग हैं जिनका संकेत प्रश्नोपनिषद में सूक्ष्म विवेचना के साथ किया गया है। संक्षेप में वह साधना 'प्राणायाम' की प्रक्रिया द्वारा सधती है। विज्ञात प्राणयामों की संख्या ८४ है। अविज्ञात इससे भी अधिक हो सकते हैं। कल्पसाधना के साधकों को प्राणवान बनाने के उद्‌देश्य से ऐसे निर्धारण चुने गए हैं जो सर्वसुलभ हैं। जिनके प्रयोग में लाभ तो बहुत है किंतु कोई भूल रहने पर हानि की तनिक भी आशंका नहीं है।

ऐसे तीन प्राणायाम कल्प साधना के एक मास में कराए जाते हैं। हर एक को तीन नहीं। इनमें से एक ही उसकी स्थिति का पर्यवेक्षण करते हुए निर्धारित किया जाता है। उसे एक महीने तक नियत समय तक नियत विधि से करते रहना होता है।

नाड़ी शोधन को एक प्रकार से आयुर्वेदोक्त पंचकर्म के समतुल्य माना जा सकता है। शारीरिक मलों के निष्कासन में वमन, विरेचन, स्वेदन, स्नेहन, नस्य के पाँच उपाय अपनाए जाते हैं और विभिन्न अवयवों में भरे हुए संचित मलों को निकाल बाहर किया जाता है। इसके उपरांत ही बलवर्द्धक रसायन पूरी तरह काम करते और प्रभाव दिखाते हैं। नाड़ीशोधन प्राणायाम का भी सूक्ष्म क्षेत्र में वही प्रभाव पड़ता है। पंचकर्म में प्रत्यक्ष मल इंद्रिय छिद्रों से होकर निकलते हैं। नाड़ी शोधन प्राणायाम में वही बात सूक्ष्म मलों का निष्कासन करने के रूप में श्वसन क्रिया के माध्यम से संपन्न होती है।

प्राणाकर्षण प्राणायाम में ब्रह्मांड-व्यापी प्राणतत्त्व से अपने लिए जिस स्तर का प्राण आवश्यक होता है, उसे खींचा जाता है। जिस प्रकार वायु में ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन, कार्बन आदि अनेकों रासायनिक सम्मिश्रण रहते हैं उसी प्रकार संव्याप्त प्राण चेतना में भी ऐसे तत्त्व घुले हुए हैं जो विभिन्न स्तर के हैं और विभिन्न प्रकार के प्रयोजनों में प्रयुक्त होते हैं। उनमें से जिसकी जितनी मात्रा आवश्यक हो उसे उस अनुपात में खींचकर अपने किसी अंग विशेष में प्रतिष्ठापित किया जा सकता है। इसकी पद्धति प्रक्रिया और विधा कल्पसाधना काल में बताई जाती है।

सूर्यवेधन प्राणायाम में प्रकाशपुंज को आर-पार करने की प्रक्रिया बनती है। चीरते हुए गुजरने में मध्यवर्ती ऊर्जा के साथ संपर्क बनता है और सतही प्रभाव के हलकापन से उलझे रहने के स्थान पर अंतराल में पाई जाने वाली प्रखरता के साथ जुड़ने की बात बनती है। सूर्य को इस विश्व का प्राण माना गया है। सविता सचेतन प्राण ऊर्जा केंद्र है। उपरोक्त तीनों प्राणायामों की विधि संक्षेप में इस प्रकार है—

(१) नाड़ी शोधन प्राणायाम—इस प्राण प्रयोग में तीन बार बाएँ नासिका से साँस खींचते और छोड़ते हुए नाभिचक्र में चंद्रमा का शीतल ध्यान, तीन बार दाहिने नासिका छिद्र से सांस खींचते और छोड़ते हुए सूर्य का उष्ण प्रकाश वाला ध्यान तथा आखिरी बार दोनों छिद्रों से साँस खींचते हुए मुख से साँस निकालने की प्रक्रिया संपादित की जाती है।

पद्मासन में बैठें, कमर सीधी रहे। दाँयी नासिका का छिद्र बंदकर बाँए से साँस खींचे और उसे नाभिचक्र तक ले जाएँ, ध्यान करें कि नाभि स्थान में पूर्णिमा के चंद्रमा के समान शीतल प्रकाश विद्यमान है। साँस उसे स्पर्श कर स्वयं शीतल एवं प्रकाशवान बन रहा है। इसी नथुने से साँस बाहर निकालें व थोड़ी देर साँस रोककर बाँयी ओर से ही इड़ा के इस प्रयोग को तीन बार करें। अब दाएँ

नथुने से इसी प्रकार पूरक, अंतः कुंभक, रेचक व बाह्य कुंभक करें व नाभिचक्र में चंद्रमा के स्थान पर सूर्य का ध्यान करें। भावना कीजिए कि नाभि स्थित सूर्य को छूकर लौटने वाली वायु पिंगला नाड़ी से होते हुए उष्मा और प्रकाश उत्पन्न कर रही है। इस क्रिया को भी तीन बार करें। अंत में नासिका के दोनों छिद्र खोल कर साँस खींचकर व भीतर रोककर मुँह खोलकर एक बार में ही बाहर निकाल दें। प्रारंभ में एक ही नाड़ी शोधन का अभ्यास करें, पीछे धीरे-धीरे संख्या बढ़ाई जा सकती है।

(२) प्राणाकर्षण प्राणायाम—इस सृष्टि में सतत विभिन्न स्तर के प्राण प्रवाहों का स्पदंन चल रहा है। साधक अपने पुरुषार्थ से इन्हें सहज ही प्राप्त व धारण कर सकता है। प्राणाकर्षण प्रयोग में अंतरिक्ष के असीम प्राण भंडार से अनुदान प्राप्त किए जाते हैं। इसका प्रयोग इस प्रकार है।

पूर्वाभिमुख हो पालथी मार कर बैठें। दोनों हाथ घुटनों पर, मेरुदंड सीधा, आँखें बंद। ध्यान करें कि अखिल आकाश प्राण तत्त्व से व्याप्त है। सूर्य के प्रकाश में चमकते बादलों की शक्ल के प्राण का उफान हमारे चारों ओर उमड़ता चला आ रहा है। नासिका के दोनों छिद्रों से साँस खींचते हुए यह भावना कीजिए कि प्राण तत्त्व के उफनते हुए बादलों को हम अपने अंदर खींच रहे हैं। यह प्राण हमारे विभिन्न अंग अवयवों में प्रवेश कर रहा है। जितनी देर आसानी से रोक सकें साँस को भीतर रोकें, भावना करें कि प्राण तत्त्व में सम्मिश्रित चैतन्य, बल, तेज, साहस, पराक्रम जैसे घटक हमारे अंग-प्रत्यंगों में स्थिर हो रहे हैं। इसके बाद साँस धीरे-धीरे बाहर निकालें, साथ ही चिंतन कीजिए की प्राण का सार तत्त्व हमारे अंग-प्रत्यंगों द्वारा पूरी तरह सोख लिया गया। थोड़ी देर तक बिना साँस के रहें व भावना करें कि जो दोष बाहर निकाले गए हैं, वे हमसे बहुत दूर चले जा रहे हैं व उन्हें अब अंदर प्रवेश नहीं होने देना है। इस पूरी प्रक्रिया को पाँच प्राणायामों तक ही सीमित रखा जाए।

(३) सूर्यवेधन प्राणायाम—ब्रह्मप्राण को आत्मप्राण के साथ संयुक्त करने के लिए उच्चस्तरीय प्राणयोग की आवश्यकता पड़ती है। सूर्य-वेधन इसी स्तर का प्राणायाम है। इसमें ध्यान-धारणा को और भी अधिक गहरा बनाया जाता है एवं प्राण ऊर्जा को साँस द्वारा खींचकर इसे सूक्ष्म शरीर में प्रवेश कराया जाता है। पद्धति इस प्रकार है—

पूर्वाभिमुख, सरल, पद्मासन, मेरुदंड सीधा, नेत्र अधखुले, दोनों घुटने पर दोनों हाथ। यह ध्यान—मुद्रा है। बाएँ हाथ को मोड़ें, उसकी हथेली पर दाएँ हाथ की कोहनी रखकर, दाहिने हाथ का अँगूठा दाहिने नथुने पर, अनामिका अंगुलियों से बाएँ नथुने को बंद कर गहरी साँस खींचे। साँस इतनी गहरी हो कि पेट फूल जाए, वह फेंफड़े तक सीमित न रहे। ध्यान करें कि प्रकाश प्राण से मिलकर दाएँ नासिका-छिद्र से पिंगला नाड़ी में होकर अपने सूक्ष्म शरीर में प्रवेश कर रहा है। साँस रोकें व दोनों नथुने बंद कर यह ध्यान करें कि नाभिचक्र के प्राण द्वारा एकत्रित यह तेज पुंज यहाँ अवस्थित चिरकाल से प्रसुप्त पड़े सूर्य चक्र को प्रकाशवान कर रहा है। वह निरंतर प्रकाशवान हो रहा है। अब बाएँ नथुने को खोल दें और ध्यान करें कि सूर्य चक्र को सतत घेरे रहने वाले, धुँधला बनाने वाले कल्मष छोड़ी हुई साँस के साथ बाहर निकल रहे हैं। पीत वर्ण का मलिन धुँधला प्रकाश इड़ा नाड़ी से बाहर निकल रहा है।

अब दोनों नथुने फिर बंद कर फेंफड़ों को बिना साँस के खाली रखें व भावना करें कि नाभिचक्र में एकत्रित प्राण तेज पुंज की तरह, अग्नि शिखा की तरह ऊपर उठ रहा है, सुषुम्ना नाड़ी से प्रस्फुटित हुआ यह प्राण तेज सारे अंतः प्रदेश को प्रकाशवान बना रहा है, सर्वत्र तेजस्विता व्याप्त हो रही है। यही प्रक्रिया फिर बाएँ नथुने से साँस खींचते व रोककर दाएँ से बाहर फेंकते हुए दुहराएँ व भावना उसी प्रकार करें जैसा ऊपर वर्णित है। यह पूरी प्रक्रिया लोम विलोम सूर्यवेधन प्राणायाम की कहलाती है।

प्राण धारण प्रक्रिया 'डीप ब्रीदिंग' के सामान्य श्वास-प्रश्वास अभ्यास से अलग है। इसमें साधक महाप्राण के भंडागार से अपनी पात्रता के अनुरूप प्राण रूपी आध्यात्मिक ऊर्जा ग्रहण करते व उसका सदुपयोग प्रसुप्त की जागृति में करते हैं। अनेकानेक फल श्रुतियों से भरा यह साधना उपक्रम हर कल्प साधक को संक्षेप में ही सही, जानना अनिवार्य है।

परिशोधन के लिए चांद्रायण प्रायश्चित

अध्यात्म साधना में अपने आपे को ईश्वर के रंग में रंगना होता है। तभी दोनों का वर्ण एक जैसा बनता है। इसके लिए सर्वप्रथम धुलाई करनी पड़ती है। कपड़े को बिना धोए रंगा जाय तो काम न चलेगा। वह तेल, कीचड़ में डूबा हो तो रंगने के लिए किया गया परिश्रम भी व्यर्थ चला जाएगा। रंगाई को साधना और धुलाई को प्रायश्चित तप कहते हैं।

मैले कुचैले गंदे कपड़े जिन्हें किसी का मन देखने-छूने-पहनने का नहीं करता उन्हें शुद्ध आकर्षक और पहनने योग्य स्थिति में बदल लेना धोबी का काम है। हेय स्थिति को श्रेय में बदले देने का चमत्कार धोबी का हाथ ही कर दिखाता है। यह कार्य प्रायश्चित का है। वह मनुष्यों की गिरी गंदी जीवन स्थिति का काया-कल्प जैसा परिवर्तन करता है और देखते-देखते उच्च भूमिका में पहुँचा देता है।

धोबी कपड़े को गरम पानी में डालता है, उसका मैल फुलाता है, साबुन से गंदगी को काटता है, पीटता है, धोता है, सुखाता है, इसके बाद कलफ लगा कर लोहा कर देता है। इतने क्रिया-कलाप में होकर गुजर जाने पर गंदा पुराना मैला कपड़ा-नए से भी अधिक आकर्षक बन जाता है। प्रायश्चित में ठीक यह सब करना होता है।

अपने गुण, कर्म, स्वभाव की मलीनताओं को समझना, इस जीवन में किए हुए पापों को स्मरण करना, उनके लिए दुःखी होना

और यह सब छोड़ने के लिए प्रबल तड़पन का उत्पन्न होना, यही गरम पानी में कपड़े को डालना है।

दबे हुए, छिपे हुए मैल को फुलाकर स्पष्ट कर देना। अपनी जो बुराइयाँ–भूलें, पाप कृतियाँ छिपाकर रखी थीं, उन्हें प्रकट कर देना। मन में दुराव की कोई गाँठ न रखना, भीतर बाहर से एक सा हो जाना, यह मैल का फुलाना है। आज की स्थिति में सर्व साधारण के सम्मुख अपने दुःचरित्र प्रकट कर सकने का साहस न होता हो तो कम से कम एक शोधक–मार्गदर्शक के सम्मुख तो सब कुछ कह ही देना चाहिए। पाप का प्रकटीकरण पाप को हलका करता है और चित्त पर से भारीपन का बोझ उतारता है।

साबुन लगाना भावी जीवन की रीति–नीति निर्धारित करना है। प्रायश्चित की सार्थकता तभी है जब पिछली गतिविधियों को बदल कर श्रेयता के पथ पर चलने का निश्चय हो। यह निश्चय ही साबुन है। स्थूल साबुन ऐसा व्यक्ति हो सकता है जिसे इस योग्य समझा जाए, कि जिसके सामने पाप प्रकट किए जाएँ और जिसके परामर्श से प्रायश्चित विधान का निश्चय किया जाए।

लकड़ी से पिटाई, पानी में धुलाई प्रायश्चित की तपश्चर्या है, जिसे पिछली भूलों के दंड स्वरूप स्वेच्छा पूर्वक किया जाता है। शारीरिक और मानसिक सुविधाओं से कुछ समय के लिए अपने को वंचित कर देना, यही तप कहलाता है। किस कर्म के लिए किस स्थिति के व्यक्ति को क्या तपश्चर्या करनी चाहिए, यह विषय बहुत ही सूक्ष्म है। इसका निर्णय किसी तत्त्वज्ञानी से ही कराना चाहिए। अलग स्थिति के व्यक्तियों के लिए एक ही दुष्कर्म की गरिमा भारी हलकी होती है, दंड के लिए भी शारीरिक मानसिक स्थिति का ध्यान रखना पड़ता है। यह निर्णय स्वयं नहीं करना चाहिए वरन किसी तत्त्व ज्ञानी से ही कराना चाहिए।

कलफ लगाना, लोहा करना यह है कि जो क्षति समाज को पहुँचाई है उसकी पूर्ति के लिए दान, त्याग, जैसा कार्य या अपनी

जैसी स्थिति हो उसके अनुसार पुण्य परमार्थ के कार्य करने चाहिए। इससे उस ऋण से मुक्ति मिलती है जो अनीति द्वारा अपहरण करके अपने शिर पर एकत्रित किया था, जो कभी न कभी ब्याज समेत चुकाना ही पड़ता। अच्छा यही है कि उसे ईमानदारी और स्वेच्छापूर्वक इसी जन्म में चुका दिया जाए, कलफ लगाना यही है।

लोहा करने का अर्थ है भावी जीवन की रीति-नीति का व्यवस्थापूर्वक निर्धारण। इसमें सोचने का ढंग—दृष्टिकोण बदलना और कार्य पद्धति का हेर-फेर, यह दोनों ही बातें सम्मिलित हैं। शरीर की क्रियाएँ बदलें, मन न बदले तो भी काम नहीं चलेगा और मन बदल जाए, शरीर वही हेय कर्म करता रहे तो भी वह विडंबना ही है। दोनों की परिवर्तित स्थिति भावी जीवन की रीति-नीति निर्धारित क़रती है और जिस पर चलने के लिए सुदृढ़ निश्चय किया जाता है उसी की सार्थकता है। प्रायश्चित का आरंभ जीवन शोधन की तड़प से आरंभ होता है। मध्य में शोधनात्मक क्रिया-कृत्य करना पड़ता है और अंत में भावी जीवन की रीति-नीति निर्धारित करने के रूप में उसकी पूर्णाहुति करनी पड़ती है। सर्वांगीण प्रायश्चित की यही समग्र प्रक्रिया है।

दुष्कर्मों से अपने अंत:करण को-विचार संस्थान को तथा काय कर्मों को जिस प्रकार दुष्प्रवृत्तियों से भर दिया गया था, उसी साहस और प्रयास के साथ इन तीनों संस्थानों के परिमार्जन, परिशोधन एवं परिष्कार की प्रक्रिया को प्रायश्चित कहा गया है। पाप कर्मों से समाज को क्षति पहुँचती है। सामान्य मर्यादा प्रवाह में व्यवधान उत्पन्न होता है। लोक परंपराएँ नष्ट होती हैं। अनेकों को कुमार्ग पर चलने के लिए अनुकरण का उत्साह मिलता है। जिन्हें क्षति पहुँची है वे विलाप करते हैं और उससे वातावरण विक्षुब्ध होकर सार्वजनिक सुख-शांति के लिए संकट उत्पन्न करता है। ऐसे-ऐसे अन्य अनेकों कारण हैं जिन्हें देखते हुए

समझा जा सकता है कि जिसे पाप कर्म द्वारा क्षति पहुँचाई गई, अकेले उसी की हानि नहीं हुई, प्रकारांतर से सारे समाज को क्षति पहुँची है। विराट ब्रह्म को-विश्व मानव को ही परमात्मा कहा गया है। यह एक प्रकार से सीधा परमात्मा पर आक्रमण करना, उसे आघात पहुँचाना और रुष्ट करना हुआ। अपराध सीधे ईश्वर के शरीर पर पड़ता है और उसे तिलमिलाने वाले कभी सुखी नहीं रहते।

इस जन्म के विदित और स्मृत पापों से लेकर जन्म-जन्मांतरों तक के पापों का निराकरण आवश्यक है। उन्हें निकालना और निरस्त करना आवश्यक है। विष खा जाने की गलती का परिमार्जन इसी प्रकार हो सकता है कि पेट और आँतों की धुलाई करके वमन विरेचन आदि द्वारा उसे जल्दी से जल्दी निकाल बाहर किया जाए। प्राण संकट उसी उपाय से टल सकता है। प्रायश्चित ही परिशोधन का एकमात्र उपाय है।

साधना विज्ञान में भी शारीरिक, मानसिक मलीनताओं के निष्कासन पर जोर दिया गया है। आयुर्वेद में विकार-ग्रस्त शरीरों के मलशोधन की प्रक्रिया के उपरांत चिकित्सा का समुचित प्रतिफल मिलने की बात कही गई है। हठयोगी नेति, धोति, वस्ति, न्यौली, वज्रौली, कपालभाति आदि क्रियाओं द्वारा मलशोधन करते हैं। आयुर्वेद में वमन, विरेचन, स्वेदन, नस्य आदि शोधन कर्म करके संचित मलों का निष्कासन किया जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा में यही कार्य उपवास एवं एनिमा के द्वारा किया जाता है। राजयोग में यम, नियमों का विधान है। कुंडलिनी योग में नाड़ी शोधन की अनिवार्यता है। यों उसका विधान प्राणयामों की विशेष प्रक्रिया पर आधारित है, पर मूल उद्देश्य शारीरिक और मानसिक क्षेत्र में घुसी हुई विकृतियों का निराकरण ही है।

लोहे को काटने के लिए लोहा, विष को मारने के लिए विष, काँटे को निकालने के लिए काँटा प्रयुक्त करना पड़ता है। दुष्कर्मों

के संचय को सत्कर्मों से निरस्त किया जाता है। आग में गरम करने से धातुओं की शुद्धि होती है। रसायन बनाने के लिए अग्नि संस्कार की विधि प्रयुक्त होती है। तपाने से ईंटों से लेकर मृतिका पात्र तक मजबूत होते हैं। पानी गरम करने से शक्तिशाली भाप बनती है। तपश्चर्या की आग से संचित दुष्कर्मों और कुसंस्कारों का परिशोधन होता है। स्वेच्छापूर्वक दंड स्वीकार करने की शालीनता अपना लेने में पकड़े जाने पर दंड पाने की अपेक्षा मनुष्य की अधिक बुद्धिमानी है। इससे खोई हुई प्रतिष्ठा को फिर से पाया जा सकता है। भूल को स्वीकार करने और सुधारने वाले व्यक्ति दया के पात्र समझे जाते हैं। उलट पड़ने से सुधार होता भी द्रुतगति से है। वाल्मीकि, अशोक, अंगुलिमाल, अजामिल, विल्वमंगल आदि जब उलट गए तो उनका कुकर्मों में प्रयुक्त होने वाला दुस्साहस सत्साहस में बदल गया और वे ध्वंस की अपेक्षा सृजन की भूमिका संपन्न करने लगे। प्रायश्चित इसी स्तर का प्रयोग है।

प्रायश्चित विधानों के अगणित उल्लेख कथा पुराणों में भरे पड़े हैं। शंख और लिखित दो भाई थे। एक ने दूसरे के बगीचे से बिन पूछे फल खा लिए। यह चोरी हुई। उन्होंने राजा के पास जाकर आग्रहपूर्वक दंड व्यवस्था कराई और उसे भुगता। बिल्व मंगल ने कुदृष्टि रखने वाली आँखों को ही नष्ट कर लिया था, इस पर वे सूरदास बने। सती ने शिवजी का आदेश न माना और वे बिना बुलाए पिता गृह चली गईं। भूल समझ में आने पर उन्होंने आत्म-हत्या करली। धृतराष्ट्र और गांधारी ने अपनी यह भूल स्वीकार की कि उन्होंने अपने पुत्रों को अनीति से रोकने में आवश्यक कड़ाई नहीं बरती और महाभारत का महाविनाश उत्पन्न हो गया। दोनों ने प्रायश्चित तप करने की ठानी और वे मरण पर्यंत बनवास में रहकर तपश्चर्या करते रहे। कुंती ने भी अपनी भूलें स्वीकार कीं और वे भी धृतराष्ट्र गांधारी की सेवा करने तथा अपना तप करने के लिए उन्हीं के साथ वन चली गईं। भूलें मात्र कौरवों की ही नहीं, उसमें

जुआ खेलने और पत्नी को दांव पर लगाने जैसे अनेक दोष पांडवों के थे, अस्तु उन्हें हिमालय में शीत से गल कर प्राण त्यागने का प्रायश्चित विधान अपनाना पड़ा।

भीष्म शरशैया पर पड़े थे। मृत्यु सामने थी। उन्होंने प्रयत्न किया कि मृत्यु टल जाय और वे उसी कष्टकर स्थिति को देर तक सहन करें ताकि अनीति समर्थन के पाप का प्रायश्चित संभव हो सके। वाल्मीकि पहले डाकू थे पीछे ईश्वर भक्ति के मार्ग पर चले। इस परिवर्तन वेला में उन्होंने पापों का प्रायश्चित करने के लिए तप साधना को आवश्यक समझा। वर्णन है कि वे अविचल साधना में बैठ गए। उनके शरीर पर दीमक ने घर बना लिया। ब्रह्माजी ने आकर दीमक छुड़ाई और पाप मुक्ति का वरदान दिया। इसी घटना के आधार पर उनका नाम वाल्मीकि पड़ा। वाल्मीकि संस्कृत में दीमक को कहते हैं। ऐसी ही कथा सुकन्या की है। उसने महर्षि च्यवन के तप संलग्न शरीर पर जमी हुई मिट्टी को मात्र टीला समझा और उसमें से चमकती आँखों में लकड़ी डाली तो आँखें फूट गई और रक्त बहने लगा। सुकन्या को जब इस अनर्थ का पता लगा कि उसकी भूल से कितनी बड़ी दुर्घटना हो गई; इसका अनुमान लगाया तो निश्चय किया कि वह उनकी सेवा आजीवन करेगी और अपनी आँखों का ही नहीं पूरे शरीर का लाभ उन्हें देगी। आग्रहपूर्वक सुकन्या च्यवन ऋषि की पत्नी बनी और उसके इस प्रायश्चित से न केवल च्यवन को आरोग्य प्राप्त हुआ वरन सुकन्या का यश भी अमर हो गया।

अंगुलिमान ने चोरी, डाके से मुँह मोड़कर बुद्ध की शरणागति प्राप्त की। साथ ही प्रायश्चित रूप दुष्कृत्यों से कमाया धन धर्म प्रचार के लिए समर्पित कर दिया। अम्बपाली भी इसी राह पर चली। भक्ति मार्ग पर चलने का निश्चय करने के साथ ही उसने न केवल वेश्यावृत्ति छोड़ी वरन उस आधार पर कमाई हुई

विपुल संपदा भी बौद्ध बिहारों के लिए दान कर दी। ऐसा ही प्रसंग पिंगला वेश्या का है। उसने भी भक्ति मार्ग अपनाने के साथ-साथ जीवन परिवर्तन की वास्तविकता सिद्ध करने के रूप में प्रायश्चित किया था और अपना उपार्जन सत्कर्म में लगाया था। सम्राट अशोक ने भी यही किया था। उन्हें 'चंड' कहा जाता था। चंड अर्थात क्रोधी। उसने अपने यौवन काल में अनेकों क्रूर-कर्म किए थे। जब मुड़े, बदले तो उन्होंने साधु की तरह निर्वाह रीति अपनाई और अपनी समस्त राज्य संपदा बौद्ध-धर्म के प्रचार कार्य में लगा दी।

इतने कठोर प्रायश्चित तो इन दिनों नहीं बन सकते। फिर बने भी तो आत्म त्रास की वैसी उपयोगिता अब नहीं मानी जाती जैसी कि पूर्वकाल में मानी जाती थी। चान्द्रायण व्रत में जहाँ पापों के प्रायश्चित की प्रमुखता है, वहाँ आरोग्य लाभ, स्वास्थ्य संतुलन, दृष्टिकोण का परिवर्तन, भविष्य निर्धारण एवं आत्मिक प्रगति का पथ-प्रशस्त होने जैसे अनेकों अतिरिक्त लाभ भी हैं। इसलिए उच्चस्तरीय साधना मार्ग पर चलने वालों को चान्द्रायण साधना के लिए परामर्श दिया जाता है।

सरल किंतु अति महत्त्वपूर्ण तीन योगाभ्यास

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के परिशोधन में संयम, विवेक और श्रद्धा संवर्द्धन को आवश्यक बताया गया है। यह बौद्धिक प्रयास है, जिसमें मनुष्य को अपने मनोबल पर ही निर्भर रहना पड़ता है। दूसरे तो मात्र मार्गदर्शन कर पाते हैं। पर इतने भर से काम कहाँ चलता है। इसके लिए दो मार्ग हैं—एक किसी सशक्त आत्मा का असाधारण अनुदान, जैसा कि विवेकानंद को रामकृष्ण परमहंस का मिला था, दूसरा—साधना-तपश्चर्या-योगाभ्यास-का कोई ऐसा प्रयोग, जिसके सहारे प्रसुप्त शक्ति केंद्रों को जागृत करके रहस्यमयी शक्तियों को आत्म-निर्णय तथा विश्व निर्माण के प्रयोजनों में प्रयुक्त किया जा सके।

कल्प साधना में ऐसे तीन योगाभ्यासों का निर्धारण किया गया है जो सभी साधकों को समान रूप से करने पड़ते हैं। इन्हें अनिवार्य साधनाओं में गिना गया है। इनमें एक बिंदुयोग, दूसरा नादयोग और तीसरा लययोग है। बिंदुयोग को त्राटक साधना भी कहा जाता है। नादयोग को 'अनाहत ध्वनि' भी कहते हैं। लययोग को आत्मदेव की साधना कहते हैं। छाया पुरुष जैसे अभ्यास इसी के अंतर्गत आते हैं। स्थूल शरीर के साथ लययोग, सूक्ष्म के साथ बिंदुयोग और कारण शरीर के साथ नादयोग का सीधा संबंध है। इन साधनाओं के आधार पर इन तीनों चेतना क्षेत्रों को अधिक परिष्कृत, अधिक प्रखर एवं अधिक समर्थ बनाया जा सकता है। अन्न, जल, वायु की तरह इन तीन साधनाओं को भी समान उत्कर्ष की दृष्टि से सर्व सुगम किंतु साथ ही असाधारण रूप से प्रभावी भी माना गया है।

बिंदुयोग–त्राटक साधना को आज्ञाचक्र का जागरण एवं तृतीय नेत्र का उन्मीलन कहा जाता है। दोनों भवों के बीच मस्तक के भृकुटि भाग में सूक्ष्म स्तर का तृतीय नेत्र है। भगवान शंकर की, देवी दुर्गा की तीन आँखें चित्रित की जाती हैं। दो आँखें सामान्य–एक भृकुटि स्थान पर दिव्य। इसे ज्ञान चक्षु भी कहते हैं। अर्जुन को भगवान ने इसी के माध्यम से विराट् के दर्शन कराए थे। भगवान शिव ने इसी को खोलकर ऐसी अग्नि निकाली थी, जिसमें उपद्रवी कामदेव जलकर भस्म हो गया। दमयंती ने भी कुदृष्टि डालते व्याध को इसी नेत्र ज्वाला के सहारे भस्म कर दिया था। संजय इसी केंद्र से अद्भुत दिव्य दृष्टि का टेलीविजन की तरह, दूरबीन की तरह उपयोग करते रहे और धृतराष्ट्र को घर बैठे महाभारत का सारा आँखों देखा हाल सुनाते रहे।

आज्ञाचक्र को शरीर विज्ञान के अनुसार और पिट्यूटरी ग्रंथियों का मध्यवर्ती सर्किल माना जाता है और उसे एक प्रकार का त्रिदलीय चक्र—दिव्य दृष्टि केंद्र कहा जाता है। टेलीविजन, राडार,

टेलीस्कोप के समन्वय युक्त क्षमता से इसकी तुलना की जाती है। जो चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता है वह इसमें सन्निहित अतीद्रिंय क्षमता के सहारे परिलक्षित हो सकता है, ऐसी मान्यता है। दूरदर्शन-सूक्ष्म दर्शन-विचार संचालन जैसी विभूतियों का उद्‌गम इसे माना जाता है। साधारणतया यह प्रसुप्त स्थिति में पड़ा रहता है और उसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष परिचय नहीं मिलता, किंतु यदि इसे प्रयत्नपूर्वक जगाया जा सके तो यह तीसरा नेत्र विचार संस्थान की क्षमता को अनेक गुनी बढ़ा देता है। चूँकि यह केंद्र दीपक की लौ के समान आकृति वाला बिंदु माना जाता है इसलिए उसे जागृत करने की साधना को बिंदुयोग कहते हैं। इसी का एक नाम त्राटक साधना भी है।

यह साधना सरल है। आमतौर से पालथी मारकर, कमर सीधी कर एकांत स्थान में साधना के लिए बैठते हैं। तीन फुट दूरी पर कंधे की सीध में ऊँचाई पर एक घृत दीप जलाकर रखते हैं। दस सैकिन्ड तक उसकी लौ को खुली आँख से देखना। फिर एक मिनट बंद रखना। फिर दस सैकिंड देखने, पचास सैकिंड बंद रखने का अभ्यास अनुमान से ही करना पड़ता है। घड़ी का उपयोग इस बीच बन पड़ना सुविधाजनक नहीं रहेगा। दूसरा कोई चुपके से धागे आदि का संकेत कर दे तो दूसरी बात है।

दीपक के प्रकाश की लौ आँखें बंद करके आज्ञाचक्र के स्थान पर प्रज्वलित देखने का अभ्यास करना होता है, साथ ही यह भी धारणा करनी होती है कि वह प्रकाश समूचे मस्तिष्क में फैलकर उसके प्रसुप्त शक्ति केंद्रों को जागृत कर रहा है। आरंभ में यह ध्यान दस मिनट से आरंभ करना चाहिए और बढ़ाते-बढ़ाते दूनी-तिगुनी अवधि तक पहुँचा देना चाहिए। खोलने बंद करने का समय एक-सा ही रहेगा। दीपक का सहारा आरंभ में ही कुछ समय लेना पड़ता है। इसके बाद आज्ञाचक्र के स्थान पर प्रकाश लौ जलने और उनकी आभा से समूचा मन:संस्थान आलोकमय हो जाने की धारणा

बिना किसी अवलंबन के मात्र कल्पना-भावना के आधार पर चलती रहती है।

दीपक की ही तरह प्रभातकालीन सूर्य का प्रकाश पुंज लक्ष्य इष्ट माना जा सकता है। गायत्री का प्राण 'सविता' वही है। पालथी मारना, हाथ गोदी में और कमर सीधी रखने को ध्यान मुद्रा कहते हैं। दीपक धारणा की तरह प्रभातकालीन अरुणाभ सूर्य को पाँच सैकिंड खुली आँख से देखकर बाद में पचपन सैंकिंड के लिए आँखें बंद कर लेते हैं और आज्ञाचक्र के स्थान पर उस उदीयमान सूर्य का ध्यान करते हैं। साथ ही यह धारणा करते हैं कि सविता देवता की ज्योति किरणें स्थूल शरीर में प्रवेश करके पवित्रता, प्रखरता, सूक्ष्म शरीर में दूरदर्शी विवेकशीलता, कारण शरीर में श्रद्धा, संवेदना का संचार करती और समग्र काय कलेवर को ज्योतिपुंज बनाती हैं। सूर्य त्राटक की ध्यान धारणा आरंभ में दस मिनट करनी चाहिए और धीरे-धीरे बीस मिनट तक बढ़ा देनी चाहिए। दीपक या सूर्य दोनों में से किसी को भी माध्यम बनाकर आज्ञाचक्र का जागरण, तृतीय नेत्र का उन्मीलन हो सकता है। कुछ समय तो लगता ही है। बीज बोने से लेकर वृक्ष फलने तक की प्रक्रिया पूरी होने में कुछ समय तो चाहिए ही। हथेली पर सरसों तो बाजीगर ही जमा सकते हैं।

दूसरी साधना नादयोग की है। यह सूक्ष्म कर्णेंद्रियों द्वारा संपन्न की जाती है। खुले कान तो एक सीमा तक की समीपवर्ती प्रत्यक्ष ध्वनि ही सुन पाते हैं। किंतु सूक्ष्म कर्णेंद्रिय में श्रवणातीत दिव्य ध्वनियाँ सुनने की भी क्षमता है। प्रकृति का मूल 'शब्द' है। वह अनादिकाल में 'ॐकार' के ध्वनि गुंजन से ही विकसित हुआ है। उसकी समस्त गतिविधियाँ परमाणुओं के अंतराल में चलने वाली हलचलों और तरंगों के प्रवाहों पर अवलंबित दीखती हैं। यदि उससे भी गहराई में उतरा जा सके तो प्रतीत होगा कि चरम मूल तक पहुँचते-पहुँचते मात्र शब्द गुंजन ही शेष रह जाता

है। ॐकार एवं उसके परिकर की अन्यान्य ध्वनियाँ उस समस्त विश्व ब्रह्मांड की भूतकालीन घटनाओं, वर्तमान की परिस्थितियों तथा भावी संभावनाओं का सारा ढाँचा इन्हीं चित्र-विचित्र स्तर की ध्वनि तरंगों पर खड़ा पाया जाता है। प्रकाश, ऊर्जा आदि की अन्यान्य तरंगें तो ध्वनि की परिणति एवं सहचरी मात्र हैं। नादयोग में इन्हीं को सुनने, समझने का अभ्यास किया जाता है ताकि उस आधार पर अपनी आंतरिक स्थिति का विश्लेषण, पर्यवेक्षण किया जा सके एवं प्रकृति में चल रही सामयिक हलचलों का आधारभूत कारण समझकर अपनी ज्ञान परिधि को अत्यधिक, व्यापक बनाया जा सके एवं भूतकाल के स्मृति-कंपनों और भविष्य में घटित होने वाले प्रकरणों का पूर्वाभास-उपलब्ध हो सके। नादयोग की शब्द साधना को 'कालजयी' कहा जाता है। उस आधार पर हम इंद्रियों के द्वारा प्राप्त होने वाले सर्वविदित प्रचलन से छलांग लगाकर दिव्य ध्वनियों के माध्यम से अपनी ज्ञान संपदा को न केवल अधिक प्रखर वरन उच्चस्तरीय भी बना सकते हैं। ऋषियों को दृष्टा, त्रिकालदर्शी, सर्वज्ञ आदि की सिद्धियाँ इसी आधार पर उपलब्ध होती थीं। यह चरम परिणति की चरचा हुई। सामान्य स्तर पर भी नादयोग की आंरभिक साधना परा प्रकृति और कायगत तत्त्व प्रपंच के साथ संगति बिठाती है और अदृश्य क्षेत्र के साथ आदान-प्रदान के नए द्वार खोलती है।

बिंदुयोग की तरह नादयोग में भी ध्यान मुद्रा पर एकांत स्थान में बैठते हैं। स्थूल ध्वनियों को रोकने के लिए कान में रूई लगा लेते हैं। इसके उपरांत प्रयत्न करते हैं कि प्रकृति के गर्भ में प्रवाहित दिव्य तरंगों का सुनना संभव हो सके। आरंभ में बहुत धीमा अनुभव होता है। जो सुनाई पड़ता है वह वंशी, नफीरी बजने, झींगुर बोलने, भ्रमर गूँजने, बादल बरसने, झरना जैसा हलका होता है। बाद में अधिक प्रखरता, उत्तेजना और उतार-चढ़ाव भी उत्पन्न होने लगता है। यह दिव्य ध्वनियाँ बड़ी मोहक और आनंददायक होती हैं।

इनकी तुलना सर्प को, भृंग को मोहने वाले वीणा निनाद से की जाती है। रासलीला में कन्हैया की वंशी बजने और गोपियों का, प्रवृत्तियों का नाच होने की संगति भी इसी नादयोग साधना के साथ जुड़ती है। ॐकार जप, सोऽहम, मंदिरों में शंख-घड़ियाल की ध्वनि का आधार भी यही है। नारद की वीणा, शंकर का डमरू, सरस्वती का सितार अलंकार रूप में इस नादयोग के रहस्यों का ही उद्घाटन करने वाले संकेत हैं।

कल्प साधना में तीसरा अनिवार्य अभ्यास लययोग है। इसमें शरीराभ्यास को आत्मसत्ता के साथ समर्पित विसर्जित करना पड़ता है। आमतौर से मनुष्य अपने आपको शरीर भर मानता है और उसी की इच्छा, आवश्यकता पूरी करने में जुटा रहता है। आत्मा को उसके स्वरूप, लक्ष्य एवं उत्तरादायित्व को तो एक प्रकार से विस्मृत ही किए रहता है। यह वह भटकाव है जिसे मायापाश, भव-बंधन आदि नामों से पुकारते हैं। यदि अपना स्वरूप समझा जा सके क्षमताओं का अनुमान लग सके, लक्ष्य का स्मरण आ सके और भावी संभावनाओं की सुखद कल्पना उठ सके तो मनुष्य निश्चय ही वर्तमान की मृगतृष्णा, भटकन, विसंगति, दुर्गति से ऊँचा उठकर उस महान के साथ संयुक्त होता है जिसकी विवेचना आत्मबोध, स्वर्ग, लक्ष्यबोध, ईश्वर दर्शन, दिव्य जीवन आदि नाम के साथ की जाती है। पुरुष से पुरुषोत्तम, नर से नारायण, क्षुद्र से महान, अर्द्ध-मृतक से अमर होने की बात इसी स्थिति के संबंध में कही जाती है जिसमें शरीरभ्यास को आत्मानुभूति के रूप में परिणत किया जाता है। इस प्रयास को महान साहस, परम पुरुषार्थ एवं चरम सौभाग्य कहा जाता है।

ध्यान मुद्रा में बैठकर दर्पण को सामने रखा जाता है। अपने चेहरे पर सज्जा सौंदर्य की नहीं, एक विशेष दृष्टि डाली जाती है कि इस मांस-पिंड के भीतर सृष्टा का प्रतिनिधित्व करने वाली आत्मसत्ता विद्यमान है। वही इस काया की अधिष्ठात्री है। उसी का उत्कर्ष परम

लक्ष्य है। काया उसी प्रयोजन की पूर्ति का वाहन, साधन, उपकरण मात्र है। शरीर की सार्थकता आत्मा के प्रति वफादार, जिम्मेदार और ईमानदार रहने में ही है। आत्मा काया का पोषण तो सही रूप से करे पर साथ ही यह भी ध्यान रखे कि उसे उच्छृंखल बनाने वाली वासना, तृष्णा, अहंता के आक्रमण से सुरक्षा का प्रबंध भी होता रहे। जीवन यज्ञ है। इसे भ्रष्ट करने वाले सुबाहु, मारीच और ताड़का से तुलना इन्हीं उपरोक्त दानवी महत्त्वाकांक्षाओं से की गई है जो विनाश और पतन के सरंजाम ही रचती रहती हैं।

कल्प-साधना में उपरोक्त तीनों साधनों को न केवल अनिवार्य माना गया है वरन सरल भी बनाया गया है। दीपक और सूर्य के स्थान पर नीलाभ विद्युत दीप साधकों के हर कमरे में लगाए गए हैं। नादयोग का आरंभिक अभ्यास करने के लिए टैप रिकार्डर के माध्यम से उपयोगी स्वर लहरियाँ सुनाई जाती हैं ताकि सूक्ष्म नाद को अधिक स्पष्ट होने का मार्ग खुले। उपयुक्त साइज का दर्पण हर कमरे में पहले से ही रखा मिलता है। तीनों साधनाएँ आरंभिक स्तर के साधक भी सरलतापूर्वक चला सकें इसके लिए यथा संभव अधिकाधिक सुविधा, सरलता उत्पन्न की गई है। व्यवस्था ऐसी है जिसमें उपरोक्त तीनों योगाभ्यास साधनाएँ बिना किसी कठिनाई के आरंभ की जा सकें। वे जैसे-जैसे विकसित-परिपक्व होती हैं वैसे-वैसे अपने सत्परिणाम भी प्रत्यक्ष करती चली जाती हैं।

□□

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।